जीववृत्ति-विज्ञान

अध्याय १

जीववृत्ति-विज्ञान

डाक्टर महाजोत सहाय,

एम्० ए० (पंजाब), पी०-एच्० डी० (लंदन),

महेंद्र कालिज, पटियाला

१९२९

हिंदुस्तानी एकेडेमी

इलाहाबाद

प्रकाशक
हिंदुस्तानी एकेडेमी, यू० पी०
इलाहाबाद

मूल्य १)

मुद्रक
गुरुप्रसाद, मैनेजर
कायस्थ पाठशाला प्रेस व प्रिंटिंग स्कूल, प्रयाग

विषय-सूची

अध्याय १—शरीर-विषयी ज्ञानेंद्रियां

अध्याय २—बाह्य-विषयी ज्ञानेंद्रियां

अध्याय ३—कर्मेंद्रियां और मज्जा-संस्थान

अध्याय ४—प्रत्यक्ष ज्ञान

अध्याय ५—प्रत्यक्ष के विषय

अध्याय ६—गुण-कल्पना और प्रत्यक्षानुकरण

अध्याय ७—अवधान

अध्याय ८—अवधान के विषय और स्थितिकाल

अध्याय ९—राजस-संस्कार

अध्याय १०—भोग और उद्वेग

अध्याय ११—वृत्ति-संबंध

अध्याय १२—स्मृति

अध्याय १३—वैज्ञानिक चेतना

अध्याय १४—विचार और भाषा

अध्याय १५—स्थायी भाव

अध्याय १६—व्यवसाय और चरित्र

अध्याय १७—व्यवसाय

अध्याय १८—शिक्षण और अभ्यास

अध्याय १९—शिक्षण के नियम

अध्याय २०—अज्ञात चेतना

अध्याय २१—जीव की अवस्थाएं

अध्याय २२—सामर्थ्य

अध्याय २३—व्यक्ति-भेद और व्यक्तित्व

अध्याय २४—जीववृत्ति-विज्ञान की विधि

अध्याय २५—जीववृत्ति-विज्ञान का विस्तार और इस के प्रयोग

अध्याय १

शरीर-विषयी ज्ञानेंद्रियां

जीववृत्तियां

मनुष्य ज्ञानेंद्रियों द्वारा बाह्य वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करता है और कर्मेंद्रियों द्वारा विविध वस्तुओं के प्रति नाना कार्य करता है। किसी वस्तु के संबंध में वह कुछ सोचता-विचारता है। किसी वस्तु को देखता है, तो सी को छू कर उस की नरमी तथा सख़्ती, उस की शीतलता तथा उष्णता का अनुभव करता है। किसी का शब्द सुनता है तो किसी ो सूँघता है। पर वह वस्तुओं का कोरा ज्ञान प्राप्त करके ही बस नहीं जाता। वह उन के प्रति भागता है, उन को पकड़ता है, खींचता है, ता है, खाता है, पीता है और किसी वस्तु के रूप-गुण का मन-ही-न मनन करता है। कभी वह तर्क, विमर्श करता है और अपने अनुभवों े नए-नए नतीजे निकालता है। देखना, सुनना, सूँघना, चखना, छूना दि; भागना, पकड़ना, खींचना, दबाना आदि; सोचना, विचारना, मझना, अनुमान करना आदि; सब हमारी वृत्तियां हैं।

ववृत्ति-विज्ञान

इन वृत्तियों के यथासंभव विवरण का नाम हिंदी लेखकों ने मनोविज्ञान रक्खा है। पर हम इस नाम की अपेक्षा जीववृत्ति-विज्ञान नाम को अच्छा समझते हैं। मनोविज्ञान मानसिक वृत्तियों का निरूपण है, जिन वृत्तियों का हम ने ऊपर उल्लेख किया है उन को मानसिक

वृत्तियां भले ही कहा जा सके, परंतु संस्कृत ग्रंथकारों ने मन शब्द का प्रयोग इस अर्थ में नहीं किया है। ध्यान देना, सोचना, विचारना आदि, दर्शन-मतानुसार, मानसिक वृत्तियां नहीं मानी जातीं। मन से परे बुद्धि है, चित्त है, अहंकार है। श्रीशंकराचार्य का मत है कि मनस् केवल अहंकार की क्रिया-शक्ति का एक रूप है। जीववृत्तियों में मानसिक वृत्तियों के अतिरिक्त अन्य बहुत सी वृत्तियां भी शामिल हैं और जीववृत्ति-विज्ञान मनुष्य की समस्त क्रियाओं—मानसिक, बुध्यात्मक, तथा विचारात्मक—का निरूपण है। मनोविज्ञान नाम इस जीववृत्ति विषय का पूर्ण द्योतक नहीं। जीववृत्तियों पर पूरा तुलनेवाला नाम जीववृत्ति-विज्ञान है।

जीववृत्तियां दो प्रकार की होती हैं—स्थूल तथा सूक्ष्म। भागना, कूदना, बोलना, खाना इत्यादि स्थूल वृत्तियां हैं। देखना, सुनना, सोचना समझना इत्यादि सूक्ष्म वृत्तियां हैं। पर इन सब का यथार्थ ज्ञान पाने के लिए शरीर के रूप, गुण, तथा आकार का ज्ञान आवश्यक है, विशेष कर ज्ञानेंद्रियों, कर्मेंद्रियों, तथा मज्जा-संस्थान का।

ज्ञानेंद्रियां

प्राचीन दर्शनकारों ने पाँच ज्ञानेंद्रियां मानी हैं—चक्षु, श्रवण, नासिका, जिह्वा, तथा त्वचा। आधुनिक जीववृत्ति-विज्ञानवेत्ता बारह तेरह ज्ञानेंद्रियां मानते हैं। ऊपर लिखी पाँच ज्ञानेंद्रियों के अतिरिक्त कंठ, अन्नप्रणाली, आमाशय, पेशियां, जोड़, अर्धवृत्ताकार नलिकाएं, रक्त-नलिकाएं भी ज्ञानेंद्रियां ही मानी गई हैं। जैसे चक्षु, श्रवण, आदि ज्ञानेंद्रियों के अपने-अपने विषय हैं, उसी प्रकार अन्य ज्ञानेंद्रियों के भी पृथक्-पृथक् विषय हैं। प्रत्येक ज्ञानेंद्रिय के विषय-सन्निकर्ष से विशेष प्रकार की गुणोपलब्धि होती है। जिस विषय का संयोग आँख से होता है उस का कान से नहीं होता, जिस का कान से होता है उस का न से नहीं। चक्षु से जो गुणोपलब्धि होती है, वह श्रवण से नहीं होती, नासिका से जो होती है वह जिह्वा से नहीं।

पहले हम उन ज्ञानेंद्रियों को लेंगे जिन के विषय हमारे शरीर के ही विविध परिवर्तन होते हैं। इन इंद्रियों द्वारा हमें पता चलता है कि हमारे शरीर की क्या अवस्था है, क्या स्थिति है, और हमारे शरीर में कहां क्या हो रहा है। हमारे शरीर में प्रति-क्षण, कुछ-न-कुछ ही नहीं, बल्कि बहुत कुछ होता रहता है। बहुत-सी बातों का हमें बिल्कुल पता ही नहीं चलता, परंतु बहुत-कुछ दैहिक परिवर्तन ऐसे हैं, जिन का हमें विशेष इंद्रियों द्वारा पता लगता रहता है।

शरीर-विषयी ज्ञानेंद्रियां

हमारे सिर में कानों के पास दोनों ओर एक-एक छोटी अस्थि है। वह बड़ी पेचदार है और उस की रचना भी विचित्र है। उस के एक भाग को शंखास्थि कहते हैं और उस के दूसरे भाग को अर्धवृत्ताकार नलिकाएं। इस विचित्र अस्थि के बीच का भाग कुछ उभरा हुआ होता है। हम पहले अर्धवृत्ताकार नलिकाओं और इस अस्थि के उभरे हुए मध्य-भाग का वर्णन करेंगे। अर्धवृत्ताकार नलिकाएं वास्तव में तो अर्धवृत्त आकार की नहीं होतीं, लगभग पूर्णवृत्त आकार की होती हैं। परंतु इन का यही नाम प्रचलित हो गया है। यह तीन नलिकाएं परस्पर मिली हुई तीन दिशाओं में लगी हैं, मानो एक नलिका पड़ी है और दो खड़ी हैं। एक खड़ी नलिका का रुख तो आगे-पीछे है, दूसरी का दाएं-बाएं। इन नलिकाओं में एक द्रव भरा रहता है। जब हमारा सिर हिलता है तो यह द्रव भी हिलता है। इस द्रव के हिलने से हमें अपने सिर के हिलने का ज्ञान होता है।

अर्धवृत्ताकार नलिकाएं

यदि हमारा सिर न भी हिलता हो, पर किसी कारण से यह द्रव । लगे, तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि हमारा सिर हिल रहा है। चूंकि हम जानते हैं कि हमारा सिर वास्तव में हिल नहीं रहा, । समझ लेते हैं कि हमें चक्कर आ रहे हैं। यदि हम कुछ काल तक

चक्कर खाते रहें और फिर अनायास स्थिर हो जायं, तो भी पड़ी हुई नलिका का द्रव घूमता रहता है और हमें यह प्रतीत होता है कि पृथ्वी हमारे गिर्द घूम रही है। एक अर्धवृत्ताकार नलिका से हमें सिर के आगे-पीछे होने का ज्ञान होता है, दूसरी से इधर-उधर हिलने का, और तीसरी से ऊपर नीचे होने का। यह तीनों नलिकाएं एक प्रकार से तीन इंद्रियां हैं और इन का विषय इन में भरे हुए द्रव का हिलना है। इन इंद्रियों द्वारा हमें अपने सिर के हिलने-जुलने तथा स्थिर रहने का ज्ञान होता है।

अस्थिगूमेड़

अर्धवृत्ताकार नलिकाओं के निकट एक उभरी हुई अस्थि है। उस में कुछ छोटे-छोटे पत्थर के से टुकड़े पड़े रहते हैं। इन को हम कर्ण-कण कहते हैं। उन में से कुछ ऊपर और कुछ नीचे की ओर बारीक तंतुओं से बँधे रहते हैं। जब हम आसन बदलते हैं, उठते-बैठते हैं, लेटते अथवा करवट लेते हैं तो इन कर्ण-कणों का भार भी नीचे-ऊपर, इधर-उधर, होता रहता है। जब हम बैठे होते हैं तो इन कर्ण-कणों का भार नीचे की ओर होता है, जब हम लेटते हैं तो एक तरफ़ और ज्यों-ज्यों हम करवट बदलते हैं त्यों-त्यों इन कर्ण-कणों का भार दिशा-विदिशा बदलता रहता है। इस प्रकार हमें इस इंद्रिय से अपने शरीर की अंगस्थिति का पता लगता है। अस्थिगूमेड़ों के विषय कर्ण-कणों की विविध दशाएं हैं और इन के द्वारा हमें अपने शरीर की दशा का ज्ञान होता है।

कंठ

हमारा कंठ भी एक ज्ञानेंद्रिय है। कंठ के ऊपरी भाग से प चलता है कि हमारे शरीर को पानी की आवश्‍ है। शरीर में जल की आवश्यकता पड़ हमारे कंठ का वह भाग सूख जाता है, हमें प्यास लगी मालूम पड़ती है। कंठ-ज्ञानेंद्रिय का विषय कंठ

ऊपरी भाग की कोमल तथा पतली खाल का सूखना है और इस से जो गुणोपलब्धि होती है उसे हम प्यास कहते हैं।

अन्नप्रणाली

जब हम भोजन निगलते हैं तो वह कंठ से होकर अन्नप्रणाली में चला जाता है। अन्नप्रणाली कंठ को आमाशय से जोड़ती है। जब हमारा जी मिचलाता है तो उस का कारण हमारी अन्नप्रणाली में सिकुड़नों का पड़ जाना होता है। अन्नप्रणाली-ज्ञानेंद्रिय का विषय उस की कोमल त्वचा का सिकुड़ना है और इस इंद्रिय द्वारा जो गुणोपलब्धि होती है उसे उबकाई कहते हैं।

आमाशय

आमाशय भी एक ज्ञानेंद्रिय है। जब आमाशय भोजन-रहित होता है तो इस के भीतर की विशेष पेशियां सिकुड़ जाती हैं, और हमें भूख लगी प्रतीत होने लगती है। जब भोजन आमाशय में पहुँच जाता है, तो यह पेशियां फिर फैल जाती हैं और हमें भूख नहीं रहती। यदि आमाशय के भोजन पूर्ण रहते हुए भी ये पेशियां किसी कारण सिकुड़ जायं तो हमें ऐसा प्रतीत होता है कि भूख लग रही है, और यदि भोजन रहित आमाशय की ये पेशियां किसी कारण से फैली रहें तो भूख नहीं लगती, चाहे शरीर निराहार रह कर कितना ही कृश क्यों न हो जाय। आमाशय-ज्ञानेंद्रिय का विषय आमाशय की पेशियों का सिकुड़ना है और इस से जो गुणोपलब्धि होती है वह भूख है।

पेशियां

हमारे शरीर की दूसरी पेशियां भी ज्ञानेंद्रियां हैं। हर एक पेशी से हमें स्पर्श और पीड़ा का अनुभव होता है। पेशी-ज्ञानेंद्रिय का विषय पेशी ही की विशेष दशा है। इस से हमें दो प्रकार की गुणोपलब्धि होती है—स्पर्श तथा पीड़ा।

लंबी पेशियों के दोनों सिरे हड्डियों से बँधे रहते हैं। इन पेशी-सिरों से हमें एक विशेष प्रकार की गुणोपलब्धि होती है। जब कोई पेशी बहुत देर तक बराबर सिकुड़ी रहती है, तो विशेष प्रकार की पीड़ा होने लगती है—पेशियों में खिँचाव-सा अनुभव होता है। पेशी-सिरों का विषय पेशी का देर तक सिकुड़े रहना है, और इन के द्वारा जो गुणोपलब्धि हमें होती है उसे खिँचाव कह सकते हैं।

पेशियों के सिरे

हमारे जोड़ भी ज्ञानेंद्रियां हैं। इन का विषय भी, पेशियों की भाँति इन की ही विशेष दशा है और इन का ही कार्य है। जब कभी हम अपने जोड़ों से काम लेते हैं हमें तुरंत पता लग जाता है और हम जान लेते हैं कि अमुक अंग अमुक दिशा में हिल रहा है। जोड़ों से भी हमें स्पर्श और पीड़ा का अनुभव होता है। जोड़-ज्ञानेंद्रियों का विषय हिलती हुई अस्थियों का एक दूसरी से लगना है।

जोड़

रुधिर नलिकाएं भी ज्ञानेंद्रियां हैं। यदि हमारे रुधिर में विशेष प्रकार का रोग हो जाय तो रुधिर नलिकाओं के पास की त्वचा में खुजली और झलझलाहट प्रतीत होती हैं। विचित्र बात यह है कि ख़राबी तो रक्त में होती है और उस के कारण झलझलाहट त्वचा में। रक्तनली-ज्ञानेंद्रिय का निज विषय रुधिर रोग है, और उस से जो गुणोपलब्धियां होती हैं वे खुजली और झलझलाहट हैं।

रक्त-नलिकाएं

हमारे दोनों फेफड़े भी हमारी दो ज्ञानेंद्रियां हैं। इन का निज विषय शुद्ध या अशुद्ध वायु का श्वास द्वारा इन भीतर जाना है। इन से दो गुणोपलब्धियां होती हैं—दम घुटना और ताज़गी। जब हम किसी धुएं-भरे या वायु-रहित कमरे में जाते हैं तो हमें ऐसा प्रतीत होता

फेफड़े

मानो हमारा दम घुट रहा हो। विपरीत इस के, यदि हम किसी ऐसे स्थान में जाते हैं कि जहां की वायु पवित्र तथा स्वच्छ हो, तो हम फिर जी से उठते हैं। ये दोनों अनुभव हमें अपने फेफड़ों द्वारा प्राप्त होते हैं। फेफड़ों से हमें पता चलता है कि जिस हवा में हम साँस ले रहे हैं वह शुद्ध है या अशुद्ध।

अध्याय २

वाह्य-विषयी ज्ञानेंद्रियां

पिछले अध्याय में जिन ज्ञानेंद्रियों का हम ने ज़िक्र किया है उन से हमें अपने शरीर ही की विविध दशाओं का ज्ञान होता है। जीववृत्ति-विज्ञान की दृष्टि से हमारा शरीर भी एक वस्तु ही है। भेद केवल इतना है कि अन्य वस्तुओं की अपेक्षा शरीर से हमारा अधिक संबंध है। अब हम उन प्रसिद्ध ज्ञानेंद्रियों का वर्णन करेंगे जिन से हमें शरीरेतर वस्तुओं का ज्ञान होता है।

जिह्वा

जब हमारे मुख में भोजन का ग्रास होता तो जिह्वा द्वारा हमें स्वादोपलब्धि होती है। जीभ की त्वचा में छोटे-छोटे छिद्र होते हैं। भोजन जब लार में घुलता है तो कुछ लार-घोल जीभ के इन छिद्रों में चला जाता है। जब तक कोई पदार्थ घुल कर इन छिद्रों में न जाय, हमें उस के स्वाद का पता नहीं लग सकता। यही कारण है कि शीशा आदि सख़्त, साफ़ चीज़ों का कोई स्वाद नहीं होता। वे लार में घुल नहीं सकते।

रसना-ज्ञानेंद्रिय का निज विषय घुलनशील वस्तु का मुख में होना है। इस इंद्रिय द्वारा चार प्रकार की गुणोपलब्धियां होनी हैं—मधु, तिक्त, अम्ल, तथा खार। हमें जो भाँति-भाँति के स्वादों का अनुभव होता है वह प्रायः शुद्ध गुणोपलब्धि नहीं होती। उस में बहुत-कुछ और भी मिला रहता है। किसी-किसी भोजन का सुस्वाद उस की उष्णता या शीतलता पर निर्भर होता है, किसी-किसी का उस की कुरकुराहट या नमी पर, और किसी-किसी का उस की आनन्ददायक सुगंधि पर। पर प्रचलित भाषा में

इन सब को स्वाद ही कहते हैं। मुख में रक्खे भक्ष्य पदार्थ के प्रत्यक्ष ज्ञान का नाम स्वाद ही है, चाहे वह रसनेंद्रिय द्वारा प्राप्त हुआ हो, चाहे त्वचा द्वारा, चाहे नासिका द्वारा।

नासिका

नासिका घ्राणेंद्रिय है। इस से हमें वस्तुओं की गंध का ज्ञान होता है। सुगंधित और दुर्गंधित वस्तुओं के बहुत नन्हे-नन्हे कण हवा के साथ हमारी नाक में चले जाते हैं। दोनों नासिकाओं के भीतर ऊपर की ओर जो पतली कोमल त्वचा लगी होती है उस पर इन सूक्ष्म कणों के लगने से हमें वस्तु की गंध का ज्ञान होता है। घ्राणेंद्रिय का निज विषय गंध सहित वस्तु के अति सूक्ष्म कणों का नासिका के भीतर की झिल्ली पर लगना है। घ्राणेंद्रिय से जो गुणोपलब्धि होती है उसे गंध कहते हैं। गंधों का वर्गीकरण अभी तक कोई भली प्रकार कर नहीं सका है। पुष्प गंध, मसाले की गंध, तारकोल की गंध, जलाँध आदि विविध प्रकार की गंधें हैं।

त्वचा

त्वचा से हमें कई प्रकार की गुणोपलब्धि होती है। पाठकों को शायद यह मालूम करके आश्चर्य होगा कि हमारी त्वचा पर अनेकों छोटे-छोटे बिंदु होते हैं और किसी बिंदु द्वारा कोई गुण उपलब्ध होते हैं, किसी द्वारा कोई। हमारी त्वचा पर ऐसे चार प्रकार के बिंदु होते हैं— स्पर्श-बिंदु, पीड़ा-बिंदु, उष्णता-बिंदु और शीत-बिंदु। त्वचा के एक छोटे से भाग में एक प्रकार के कई-कई ज्ञान बिंदु होते हैं और हर तरह के ज्ञान बिंदु का निज विषय पृथक्-पृथक् होता है। स्पर्श-बिंदु का विषय किसी वस्तु का त्वचा से लगना है। पीड़ा-बिंदु का विषय त्वचा को हानि पहुँचना है। उष्णता-बिंदु का निज विषय त्वचा की अपेक्षा अधिक उष्ण वस्तु का त्वचा से लगना है और शीत-बिंदु का निज विषय त्वचा की अपेक्षा ज़्यादा शीतल वस्तु का त्वचा से लगना है।

ज्ञानेंद्रियों में सब से महत्त्वपूर्ण इंद्रियां कान और आँख हैं।

कर्णेंद्रिय

कान से हमें शब्द का ज्ञान होता है। शब्द वस्तु से निकल कर हमारे कान तक तरंगों के रूप में पहुँचता है, और हमारे कान में आकर एकत्रित हो जाता है। फिर कान के छिद्र में से होकर शब्द-प्रणाली में चला जाता है। शब्द-प्रणाली के अंत में कान का परदा है। जब शब्द तरंगें कान के परदे से टकराती हैं तो वह थर्राने लगता है। कान के परदे के पीछे तीन छोटी-छोटी अस्थियों की एक पंक्ति होती है। इस पंक्ति की अंतिम अस्थि शंखास्थि से मिली रहती है। शंखास्थि में एक छिद्र होता है। यह अंतिम अस्थि उस छिद्र पर ठीक आती है। शंखास्थि के भीतर एक द्रव भरा रहता है। हड्डियों की पंक्ति द्वारा कान के परदे की थरथराहट इस द्रव तक पहुँचती है, और द्रव स्वयं थर्राने लगता है।

कान की रचना भी बड़ी विचित्र है। शंखास्थि के भीतर साधारण शंख की-सी एक पेचदार नली है। और शंख एक तरफ़ से मोटा, दूसरी तरफ़ से पतला है। इस लिए इस अस्थि के अंदर की कोमल त्वचा आकार में त्रिकोण होती है। इस तिकोनी त्वचा में ऊपर से नीचे तक पतले-पतले सेतु से बँधे होते हैं, जैसे किसी पत्ते में समांतर रगें उठी हों। जब शंखास्थि के भीतर का द्रव थर्राता है तो यह सेतु भी थर्राने लगते हैं और हमें भिन्न-भिन्न प्रकार के शब्द सुनाई देते हैं।

कर्णेंद्रिय का निज विषय भौतिक शब्द है। जब भौतिक शब्द-तरंगें हमारे कान के परदे से टकराती हैं, और परदे के थर्राने से शंखास्थि की तिकोनी झिल्ली के सेतु थर्राते हैं, तब कर्णेंद्रिय उत्तेजित होती है। कान से जो गुणोपलब्धि होती है उसे भी शब्द कहते हैं। शब्द भिन्न-भिन्न स्वरों के होते हैं। स्वर भी कोई ऊँचे कोई नीचे होते हैं, पर शब्दों में एक और प्रकार की ऊँचाई-निचाई भी होती है। हम एक ही स्वर को ऊँची अथवा नीची आवाज़ से निकाल सकते हैं।

साधारणतया जब ऊँचा स्वर निकलता है तो आवाज़ भी ऊँची होती है, और जब नीचा स्वर निकलता है तो आवाज़ भी नीची। पर यदि हम चाहें तो ऊँची आवाज़ से नीचा स्वर, और नीची आवाज़ से ऊँचा स्वर निकाल सकते हैं। तोप की आवाज़ का स्वर प्रायः इतना ऊँचा नहीं होता जितना कभी-कभी इंजन की सीटी का होता है। और गाने में तो हम अकसर तोप की आवाज़ के स्वर से कहीं ऊँचा स्वर निकालते हैं, हालाँ कि तोप की आवाज़ मनुष्य की आवाज़ की अपेक्षा बहुत ज्यादा ऊँची होती है।

दो प्रकार की ऊचाई-निचाई के अलावा, शब्दों में और भेद भी होते हैं। किसी वस्तु का शब्द बिल्कुल किसी और वस्तु के शब्द का ऐसा नहीं होता, चाहे स्वर और ऊँचाई समान ही क्यों न हों। जिन वस्तुओं को हम देख नहीं रहे होते हैं उन को हम प्रायः उन के शब्द से ही पहचानते हैं। हमारे सब मित्रों और बंधुओं के शब्द पृथक्-पृथक् होते हैं। और यदि हमें कोई पुकारे तो हम तत्काल समझ जाते हैं कि कौन पुकार रहा है।

शायद आँख कान से भी अधिक विचित्र अंग है। कोमल आँखों को सुरक्षित रखने के लिए मस्तक की अस्थियों में इन के वास्ते उचित स्थान बने हैं, और इन के आगे पपोटे लगे हैं, जो दो विचित्र द्वार-पटों की भाँति खुलते बंद होते हैं। फिर अति कोमल पारदर्शक त्वचा लगी होती है, जिस में से रोशनी अंदर चली जाती है। उस त्वचा के पीछे आँख की रंगदार पुतली होती है। किसी की पुतली काली होती है, किसी की भूरी, किसी की नीलिमा लिए। पुतली के बीचों-बीच एक छोटा-सा छिद्र होता है। प्रकाश-किरणें इस छिद्र में से होकर हमारी आँख में पहुँचती हैं।

आँख

पुतली के पीछे दोनों तरफ़ से उभरा हुआ एक ताल लगा होता है। क्योंकि वह दोनों तरफ़ से उभरा हुआ होता है, इसे युगलोन्नतोदर

ताल कहते हैं। यह ताल शीशे का बना नहीं होता, एक ऐसे कोमल द्रव्य का बना होता है कि स्वतः सिकुड़ता फैलता रहता है। जब हम निकट-वर्ती किसी वस्तु को देखते हैं तो यह ताल सिकुड़ कर मोटा हो जाता है। जब हम किसी दूर की चीज़ को देखते हैं तो यह फैल कर चपटा हो जाता है। इस के सिकुड़ने-फैलने का अभिप्राय यह है कि जिस वस्तु को हम देख रहे होते हैं, उस की प्रकाश-तरंगें हमारी आँख में एक विशेष स्थान पर ही पड़ें।

अक्षि-ताल से पीछे अक्षि-गोला एक पारदर्शक द्रव से भरा रहता है। इस द्रव के कारण कोमल आँख सर्वथा सुरक्षित रहती है। गोले की पिछली भित्ती ही असली आँख है। उसी पर प्रकाश पड़ने से हमें दिखाई देता है। आँख के भीतर घोर अँधेरा होता है। केवल एक सूक्ष्म स्थान पर प्रकाश की किरणें पड़ती हैं, और हमें एक चीज़ नज़र आती है।

चक्षु-इंद्रिय का निज विषय-प्रकाश तरंगें हैं, और चक्षु-इंद्रिय से हमें रंग और रोशनी उपलब्ध होते हैं। प्रकाश दो प्रकार का होता है सवर्ण और निर्वर्ण। सफ़ेद, काला और भूरा और इन के बीच-बीच के विविध प्रकाश निर्वर्ण प्रकाश हैं, और लाल, पीला, हरा और इन के अंतर्गत विविध प्रकाश सवर्ण प्रकाश हैं।

अध्याय ३

कर्मेंद्रियां और मज्जा-संस्थान

कर्मेंद्रियां

दर्शनों में प्रायः पाँच कर्मेंद्रियां मानी गई हैं—हाथ, पाँव, वाक्, वायु और उपस्थ। यह ठीक है कि हम इन अंगों द्वारा कर्म करते हैं, पर निस्संदेह हम अपने और अंगों से भी बड़े-बड़े महत्वपूर्ण काम करते हैं। एक आँख के इशारे से हम कभी-कभी बोली की अपेक्षा कहीं ज़्यादा काम कर पाते हैं। आँख से देख कर किसी को सुख पहुँचाते हैं किसी को दुख। कभी हम लड़ते-लड़ते मेढ़ों की तरह सिर से टक्कर मारते हैं, कभी अपने सारे शरीर का बोझ दूसरे के ऊपर डाल देते हैं। तो क्या हमारी आँखें, हमारा सिर, हमारा समस्त शरीर कर्मेंद्रियां नहीं हुईं ?

वास्तव में कर्मेंद्रियां पेशियां होती हैं। पाणि, पाद्, वाक्, वायु, उपस्थ, इन सब में पेशियां काम करती हैं। जब तक कोई पेशी सिकुड़ती या फैलती नहीं हमारे शरीर का कोई अंग नहीं हिल सकता, हाथ उठ नहीं सकता, पाँव चल नहीं सकता, जीभ हिल नहीं सकती। जहां जहां पेशियां लगी होती हैं वहां वहां ही शरीर के अंग हिल-जुल सकते हैं। आँखों में भी पेशियां लगी हैं, गर्दन में भी और धड़ में भी। इसी कारण यह अवयव हिल-जुल सकते हैं।

पेशियां

हमारी कोई-कोई पेशियां ऐसी हैं कि उन को हम जब चाहें सिकोड़-फैला सकते हैं, और उन के द्वारा अपने अंगों को हिला-जुला सकते हैं। हम जब चाहें आँख को बंद कर सकते हैं, जब चाहें खोल सकते हैं, जीभ को जिस तरह चाहें मोड़ सकते हैं, हाथ-पाँव जिस ढंग से चाहें

हिला-जुला सकते हैं। जो पेशियां इस प्रकार हमारे वश में हैं उन्हें ऐच्छिक पेशियां कहते हैं। इन के अतिरिक्त बहुत सी अनैच्छिक पेशियां भी हैं, वे स्वयं उचित समय पर सिकुड़ती फैलती हैं, और प्रायः हमें पता भी नहीं लगता कि कब कौन पेशी सिकुड़ी या फैली।

जब भोजन आमाशय में पहुँचता है तो आमाशय की पेशियां स्वतः काम करने लगती हैं और पाचन-क्रिया आरंभ हो जाती है। जब हमारी आँखें थक जाती हैं तो स्वयं हम पलक मार लेते हैं। क्या किसी को पता रहता है कि वह एक मिनट में कितनी बार अपनी आँखें खोलता-मूँदता है? जब हमारे कंठ में या नासिका में कुछ उत्पात होता है तो बिना कोशिश किए ही हम खाँसने या छींकने लगते हैं। जीववृत्ति-शास्त्र के दृष्टिकोण से अनैच्छिक पेशियां भी कर्मेंद्रियां हैं, यद्यपि कर्तव्यशास्त्र की दृष्टि से यह कर्मेंद्रियां नहीं।

ग्रंथियां

जीववृत्ति-विज्ञान के अनुसार एक और प्रकार की भी कर्मेंद्रियां हैं। वे हमारी ग्रंथियां हैं। ग्रंथियां भी विचित्र अंग हैं। बड़े-बड़े कारखानों की भाँति, हमारी ग्रंथियां विचित्र रसायनिक द्रव बनाती रहती हैं। और यदि कभी इन में से एक में भी कमी या अधिकता हो जाय, तो सारा शरीर अस्त-व्यस्त हो जाता है।

सप्रणाल ग्रंथियां

हमारे शरीर की सब से बड़ी ग्रंथि यकृत है। इस में पित्त बनता है और एक नली द्वारा आमाशय में पहुँचता है। पित्त से आमाशय को भोजन पचाने में बड़ी सहायता मिलती है। कफ़ाशय, गुर्दे, आमाशय-ग्रंथियां, स्वेद-ग्रंथियां, लार-ग्रंथियां आदि विविध प्रकार की ग्रंथियां हमारे शरीर में जहां-तहां लगी हैं। वे अपना-अपना रस किसी उचित स्थान पर डालती हैं, जो हमारे लिए बहुत उपयोगी होता है। तिल्ली का

रस भी पाचन क्रिया के लिए ज़रूरी होता है और आमाशय-ग्रंथियों का रस भी।

गुर्दे और स्वेद-ग्रंथियां ऐसे द्रव बनाती हैं जिन का हम प्रयोग नहीं करते, किंतु जिन के बने बिना हमारा काम भी नहीं चल सकता। यदि गुर्दे मूत्र न बनाएं और स्वेद-ग्रंथियों में से स्वेद न निकले, तो हम निस्संदेह रोग-ग्रस्त हो जाँय।

अप्रणाल ग्रंथियां

जिन ग्रंथियों का हम ने अब तक ज़िक्र किया है, उन का एक विशेष लक्षण यह है कि उन का रस एक प्रणाली में से होकर हमारे शरीर में किसी स्थान पर गिरता है। यकृत और तिल्ली के रस आमाशय में गिरते हैं। लार हमारे मुँह में गिरता है। और स्वेद हमारी त्वचा पर निकलता है। किंतु एक प्रकार की ऐसी भी ग्रंथियां हैं जो प्रणाली-रहित होती हैं। वे अपना रस किसी अन्य स्थान पर ले जाकर नहीं डालतीं। उन का रस वहीं पर रुधिर-प्रवाह में मिल जाता है। रुधिर घूमता-घूमता शरीर के कोने-कोने में पहुँचता है, और जब रुधिर इन ग्रंथियों के पास को होकर जाता है, तो इन का रस अपने साथ लेता जाता है।

पिटुइटरी

दो ऐसी ग्रंथियां हमारे सिर में हैं। इन में से एक बहुत ही महत्व-पूर्ण है। इस को अंग्रेज़ी भाषा में पिटुइटरी कहते हैं। पिटुइटरी हमारे शरीर के लिए बहुत ज़रूरी है और इस का प्रभाव भी हमारे शरीर पर बहुत ज़्यादा पड़ता है। यदि पिटुइटरी रस में कमी हो जाय, तो हम काफ़ी लं नहीं होते। हमारे शरीर की हड्डियां छोटी रह जाती हैं। यदि यह रस उचित प्रमाण से बढ़ जाय, तो हमारे अंग बड़े-बड़े हो जाते हैं, और यदि बहुत ही बढ़ जाय तो शरीर देवों का ऐसा हो जाता है।

हमारे गले में पाँच अप्रणाल ग्रंथियां होती हैं। इन में से एक बड़ी महत्वपूर्ण है। इस को अंग्रेज़ी में थाईरोएड कहते हैं। यदि इस ग्रंथि के रस में कमी हो जाय, तो आदमी छोटे क़द का और फूला-फाला सा हो जाता है और प्रायः बुद्धिहीन रहता है।

थाईरोएड

स्त्री और पुरुष शरीर में विभिन्न प्रकार की अप्रणाल ग्रंथियां होती हैं, जिन की बदौलत स्त्रियां स्त्रियां होती हैं और पुरुष पुरुष। यदि प्रणाली-रहित स्त्री-ग्रंथियां किसी पुरुष के शरीर में लगा दी जायं, तो वह बहुत कुछ स्त्री के समान हो जाय, उस के दाढ़ी मूँछ कुछ भी न निकलें। और यदि प्रणाली-रहित पुरुष-ग्रंथियां किसी स्त्री के शरीर में लगा दी जायं यो वह बहुत-कुछ पुरुष के समान हो जाय, उस के मुख पर रोम दिखाई पड़ने लगें और उस की रुचि भी ऐसे ही कामों में हो जाय जो प्रायः पुरुषों को प्रिय होते हैं।

स्त्री-पुरुष ग्रंथियां

गुर्दों के ऊपर दो छोटी-छोटी अप्रणाल-ग्रंथियां लगी होती हैं। इन का रस बल-प्रदान करता है। जब हम क्रुद्ध होते हैं, या कोई श्रमदायक काम करते होते हैं, तो इन ग्रंथियों का अधिक रस रक्त में मिलता रहता है और जब यह रस ज़्यादा व्यय हो जाता है तो हमें थकान मालूम होने लगती है। ऐसी-ऐसी कई और भी प्रणाली-रहित ग्रंथियां शरीर में होती हैं, जिन सब का वर्णन इस छोटी पुस्तक में नहीं हो सकता।

एड्रीनैल्ज़

जीव की सारी वृत्तियां ज्ञानेंद्रिय-उत्तेजना से शुरू होती हैं, और किसी पेशी या किसी ग्रंथि के कार्य में ख़तम होती हैं। हम आँख से अपने मित्र को देखते हैं और मुख से और हाथों से उस का स्वागत करते हैं। हम कानों से जंगल में शेर का गर्जन सुनते हैं और पाँवों से भागने

लगते हैं। हमें आमाशय से भूख लगने का प्रत्यक्ष होता है और हम मुख से भोजन मांगते हैं और लार-ग्रंथियों तथा आमाशय-ग्रंथियां से उस के पचाने का प्रबंध करते हैं।

मज्जा संस्थान

इंद्रिय द्वारा ज्ञान प्राप्त होने और काम करने के बीच में भी शरीर में बहुत कुछ होता है। पर मालूम ऐसा होता है कि ज्ञान होते ही काम हो गया। प्रायः ज्ञान और कार्य साथ-साथ ही होते प्रतीत होते हैं। ज्ञान और कार्य के बीच में जो कुछ होना है उस का माध्यम मज्जासंस्थान है। मज्जासंस्थान ही ज्ञान को कार्य में परिणत करता है। मज्जासंस्थान के द्वारा ही जीव-वृत्तियां उपस्थित होती हैं। मज्जासंस्थान के दो बड़े भाग हैं—एक मज्जातंतु दूसरा मज्जाकेंद्र। पहिले हम मज्जाकेंद्रों का वर्णन करेंगे।

मज्जादंड

शरीर में कितने ही मज्जाकेंद्र हैं। उन में से पाँच बहुत महत्वपूर्ण हैं। यह अपने कार्य में क्रम से एक दूसरे से ऊँचे हैं। सब से नीचा मज्जाकेंद्र मज्जादंड कहलाता है। यह हमारी रीढ़ की हड्डी के भीतर ऊपर से नीचे तक सूत की भाँति पिरोआ हुआ है। मज्जादंड बड़े काम का अंग है। शरीर की बहुत सी वृत्तियां मस्तिष्क को कष्ट दिए बिना मज्जादंड ही पूरी कर देता है।

मज्जादंडमूल

मज्जादंड के ऊपर मज्जादंडमूल होता है। मज्जादंडमूल से भी बहुत से ऐसे काम लिए जाते हैं। पाचन, रक्त भ्रमण, प्रवासोच्छ्वास आदि जीववृत्तियां मज्जादंड-मूल के ही अधीन होती हैं।

छोटा मस्तिष्क

मज्जादंड से ऊपर सिर के पिछले भाग में छोटा मस्तिष्क लगा होता है। छोटे मस्तिष्क का मुख्य कार्य हमें समतल रखना है। यदि हम गिरने लगते हैं तो छोटा मस्तिष्क ऐसी वृत्तियां उपस्थित कर देता है जिन से हम यथासंभव अपनी रक्षा कर सकें।

छोटे मस्तिष्क और बड़े मस्तिष्क के बीच में मध्य-मस्तिष्क होता है।

मध्य-मस्तिष्क

मध्य-मस्तिष्क मुख्यतः एक तरफ़ मज्जादंडमूल और छोटे मस्तिष्क और दूसरी तरफ़ छोटे मस्तिष्क के बीच में मध्यम का काम करता है।

फिर बड़ा मस्तिष्क होता है। यह सब से ऊँचा और सब से श्रेष्ठ

बड़ा मस्तिष्क

मज्जाकेंद्र है। इस की सहायता के बिना न हमें ज्ञान प्राप्त हो सकता है, न सुख-दुःख का अनुभव हो सकता है, न किसी काम करने की इच्छा हो सकती है। यदि बड़ा मस्तिष्क काम न करे तो हम सोच समझ नहीं सकते। बड़े मस्तिष्क का ऊपरी भाग, मस्तिष्क-शिरोवेष्टन, चेतना का साधन है। यदि मस्तिष्क-शिरोवेष्टन क्षण भर के लिए भी काम करना बंद कर दे, तो हम बेहोश हो जाते हैं, अचेत गिर पड़ते हैं। यदि यह काम करता रहे तो कुछ न कुछ चेतना अवश्य बनी रहती है।

एक और विचित्र बात यह है कि मस्तिष्क-शिरोवेष्टन विविध भागों में विभक्त है। कोई भाग कुछ काम करता है कोई कुछ। हमारे मस्तिष्क शिरोवेष्टन में दृष्टि-केंद्र हैं, श्रवण-केंद्र हैं, त्वक्-केंद्र हैं, घ्राण-केंद्र हैं, रसना-केंद्र हैं और इसी प्रकार कार्य-केंद्र तथा संबंध-केंद्र भी हैं। इन सब केंद्रों के होते हुए भी, मस्तिष्क-शिरोवेष्टन के एक होने में ज़रा अंतर नहीं पड़ता। सारा मस्तिष्क एक साथ काम करता है और जीववृत्तियों में कुछ गड़बड़ नहीं हो पाती।

मज्जा-संस्थान का दूसरा भाग मज्जातंतु है। यह हमारे सारे शरीर

मज्जा-तंतु

में फैले हुए हैं और इन्हों ने एक जाल-सा बना रक्खा है। प्रत्येक ज्ञानेंद्रिय से मज्जातंतु केंद्रों को जाते हैं। और मज्जाकेंद्रों से प्रत्येक पेशी तथा प्रत्येक ग्रंथि तक मज्जातंतु पहुँचते हैं। जो तंतु ज्ञानेंद्रिय प्रवर्तन को मज्जाकेंद्रों की तरफ़

ले जाते हैं वे ज्ञानतंतु कहलाते हैं। और जो तंतु मज्जाकेंद्र-प्रवर्तन को पेशियों और ग्रंथियों तक ले जाते हैं वे क्रियातंतु कहलाते हैं।

जब कोई जीववृत्ति उपस्थित होती है तो प्रथम किसी न किसी ज्ञानेंद्रिय में निज विषय सन्निकर्ष से उत्तेजना होती है। फिर यह प्रवर्तन किसी ज्ञानतंतु द्वारा मज्जाकेंद्रों में पहुँचता है और उन को उत्तेजित करता है। फिर मज्जाकेंद्रों का प्रवर्तन, क्रिया-तंतुओं द्वारा, पेशियों या ग्रंथियों में पहुँचता है और उन को प्रवृत्त करता है। जब पेशियां या ग्रंथियां अपना काम कर चुकती हैं तब जीववृत्ति समाप्त हो जाती है। यह जीववृत्ति चेतना रहित होती है तो ज्ञानेंद्रिय प्रवर्तन नीचे मज्जाकेंद्रों तक ही पहुँचता है और वहीं से पेशियों या ग्रंथियों को सूचना मिल जाती है। मगर जब जीववृत्ति सचेत होता है तो यह जरूरी होता है कि मस्तिष्क-शिरोवेष्ठन तक प्रवर्तन पहुँचे और इस श्रेष्ठ अंग को उत्तेजित करे। यदि चेतना के बग़ैर ही ऐसा कोई सहज कार्य करना हो जैसे भोजन पचाना या तत्काल किसी अंग का हिलाना, तो मस्तिष्क तक ज्ञान-प्रवर्तन पहुँचने की आवश्यकता नहीं। बहुत दफ़ा जीव को पता भी नहीं लगता और कार्य हो जाता है। पर यदि काम करने से पहले कुछ सोचना-समझना हो, कुछ देखना-भालना हो, तो आवश्यक है कि मस्तिष्क शिरोवेष्ठन में उत्तेजना हो और वहां से सूचनाएं पेशियों को भेजी जाँय।

— —

अध्याय ४

प्रत्यक्ष ज्ञान

हम पीछे देख आए हैं कि जीववृत्तियों की उपस्थिति के लिए ज्ञानेंद्रिय-उत्तेजना, मज्जासंस्थान-विकृति, और कर्मेंद्रिय-क्रिया, तीनों ज़रूरी हैं। प्रत्यक्ष ज्ञान ज्ञानेंद्रिय और मज्जासंस्थान द्वारा उत्पन्न होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान होने पर कोई न कोई कर्मेंद्रिय प्रवृत्त होती है। किंतु ज्ञानेंद्रिय, मज्जासंस्थान और कर्मेंद्रिय की क्रियाओं के अलावा, जीववृत्ति आरंभ होने के लिए जीव में कुछ न कुछ संस्कार होने की आवश्यकता है। बिना संस्कार-प्रवृत्ति के कोई जीववृत्ति उपस्थित नहीं हो सकती।

संस्कार

संस्कार दो प्रकार के होते हैं—एक पूर्वसिद्ध संस्कार जो कि जीव के वंश से उसे मिलते हैं या किसी और तरीके से जन्म से ही उस में होते हैं, दूसरे वे संस्कार जो जीवन काल में जीव के अपने ही अनुभवों से बन जाते हैं। यह जीवन का एक धर्म है कि हर एक वृत्ति अपना कुछ न कुछ असर जीव के ऊपर अवश्य छोड़ जाती है। यह असर जीव में संस्कार के रूप में रहता है। जब हम किसी काम को दुबारा करते हैं तो निस्संदेह हम उस को ठीक उसी तरह नहीं करते, जिस तरह कि हम ने उसे पहले-पहल किया था, यहां तक कि हमारे अनुभव भी कभी बिल्कुल वैसे के वैसे ही नहीं दोहराए जा सकते चाहे उन का विषय वह का वही क्यों न रहे। कारण यही है कि पहले अनुभव और दूसरे अनुभव के बीच में जितनी वृत्तियां होती हैं वे सब अपने असर छोड़ जाती हैं और वह असर नए अनुभव पर अवश्य पड़ते हैं।

जीव का व्यक्तित्व उस के प्राकृतिक और अर्जित संस्कारों ही से बनता है। जैसे-जैसे जिस के संस्कार होते हैं वैसा ही वह व्यक्ति होता है। कहीं दो व्यक्तियों के समस्त संस्कार, प्राकृतिक और अर्जित, बिल्कुल समान नहीं होते। प्रायः व्यक्तियों में आपस में बहुत कुछ भेद रहता है और यह व्यक्ति-भेद बड़ा महत्वपूर्ण होता है। बिना किसी न किसी प्राकृतिक संस्कार के कोई वस्तु उपलब्ध नहीं हो सकती। यही कारण है कि कोई जीव किसी विशेष प्रकार की वस्तुओं को सहज ही उपलब्ध कर लेते हैं और दूसरे जीव उन वस्तुओं को उपलब्ध नहीं करते। कुत्ता अनाज के दानों की कुछ परवाह नहीं करता। यदि वे उस के सामने भी पड़े हों तो वह उन्हें नहीं देखता। परंतु यदि मांस का टुकड़ा कुछ दूर भी पड़ा हो तो कुत्ता सूँघ कर उस का पता लगा लेता है। गाय मांस के टुकड़े को नहीं देखती पर अनाज के ढेर को दूर से ही प्रत्यक्ष कर लेती है। इस मामले में कुत्ते और गाय के संस्कार बिल्कुल जुदा-जुदा हैं।

बौद्धों का मत है कि प्रत्यक्ष अर्थाधिगति में तीन क्षण होते हैं।

बौद्ध-मत

पहला क्षण तो विषय-सन्निकर्ष का होता है। पहले-पहल विषय का ज्ञानेंद्रिय से संयोग होता है। दूसरा क्षण सन्निहित विषय के द्वारा प्रेरणा का है। और तीसरा क्षण प्रेरणा की बदौलत अर्थाधिगति का है।

यह ठीक है कि विषय सन्निकर्ष से प्रेरणा होती है। पर बिना पूर्व संस्कार के प्रेरणा नहीं हो सकती। प्रेरणा संस्कार-जागृति का ही दूसरा नाम है। तात्पर्य यह है कि बिना संस्कार के प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। साधारण प्रत्यक्षों में दोनों प्रकार के संस्कार प्रवृत्त होते हैं—प्राकृतिक भी और अर्जित भी। प्रत्येक वस्तु की उपलब्धि तो इस कारण होती है कि उस के संबंध में कुछ न कुछ प्राकृतिक संस्कार हम में होते हैं। पर कोई विशेष उपलब्धि इस कारण होती है कि उस वस्तु-संबंधी बहुत से संस्कार हमारे उपार्जित भी किए होते हैं।

एक ही पुस्तक को दो आदमी देखते हैं, एक पंडित जिस ने उस विषय की बहुत सी किताबें पढ़ी हैं और दूसरा गँवार जिस के लिए काला अक्षर भैंस बराबर। पुस्तक एक ही है, पर उपलब्ध विषय जुदा-जुदा हैं। कारण यह कि जो संस्कार पंडित में हैं वे गँवार में नहीं। संस्कारों की बदौलत उपलब्ध वस्तु कुछ की कुछ हो जाती है।

मीमांसा-शास्त्र के अनुसार विषय सन्निकर्ष होते ही प्रथम निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। तत्पश्चात् आत्मा अपने पूर्व संस्कारों के कारण इस प्रत्यक्ष का दूसरे प्रत्यक्षों से संबंध जोड़ती है। तब यह प्रत्यक्ष सविकल्पक होता है।

मीमांसा-मत

सांख्य, योग और न्यायमत भी ऐसा ही है। न्यायमत के अनुसार ज्ञान होने के पश्चात् प्रत्यक्ष शनैः-शनैः बढ़ता है, और निर्विकल्पक रूप से सविकल्पक रूप में आ जाता है।

न्याय-मत

जैन-मतानुसार प्रत्यक्ष ज्ञान की कोई निर्विकल्प अवस्था नहीं होती। प्रत्यक्ष ज्ञान शुरू से ही सविकल्पक होता है। उत्तर नैयायिकों का भी यही मत है कि वास्तव में प्रत्यक्ष में निर्विकल्प और सविकल्प दो क्रम नहीं होते। एक क्षण में निर्विकल्प और दूसरे क्षण में सविकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। निर्विकल्प-सविकल्प भेद जीववृत्तिगत नहीं, केवल तार्किक है। तर्क-शास्त्र के दृष्टिकोण से सविकल्प और निर्विकल्प प्रत्यक्ष ज्ञान में भेद दिखाई पड़ता है। अनुभव में कोई भेद नहीं होता। पहले निर्विकल्पक और फिर सविकल्पक प्रत्यक्ष नहीं होता। प्रत्यक्ष ज्ञान हमेशा सविकल्पक ही होता है। पर युक्ति कहती है कि इंद्रिय सन्निकर्ष मात्र तो निर्विकल्प ही होना चाहिए।

जैन-मत

आधुनिक जीववृत्ति-विज्ञानवेत्ताओं में भी इस विषय पर मतभेद

है। परंतु ठीक यही मालूम होता है कि प्रौढ़ मनुष्य के अनुभव में कभी वस्तुहीन प्रत्यक्ष नहीं होता। अंतरावलोकन से निर्विकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान की सिद्धि नहीं होती। जब बच्चा पैदा होता है तो उस का प्रथम प्रत्यक्ष भले ही निर्विकल्पक होता हो। परंतु जब उस को दुनिया का दुबारा प्रत्यक्ष होता है, तब वह अवश्य सविकल्पक होता है, क्योंकि उस का पहला प्रत्यक्ष अपना असर छोड़ जाता है, वह असर संस्कार-रूप में उस में रहता है और उस बच्चे के दूसरे प्रत्यक्ष पर अवश्य प्रभाव डालता है। दूसरा प्रत्यक्ष "दुनिया" नहीं होता, बल्कि "वही दुनिया जो पहले थी" होता है।

बौद्ध-मत

बौद्धों के अनुसार और बहुत से आधुनिक जीववृत्ति-विज्ञानवेत्ताओं के अनुसार प्रत्यक्ष ज्ञान में पूर्व अनुभवों की स्मृति शामिल होती है। जब हमें किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तो प्रायः अपने पूर्व अनुभव स्मरण हो आते हैं। उदाहरणार्थ यदि हम किसी के पास एक सुंदर पुस्तक देखें तो हमें याद आ जाता है कि हमारे पास भी एक ऐसी सुंदर पुस्तक थी जो कि खो गई। पर यह ज़रूरी नहीं कि जब कभी कोई प्रत्यक्ष ज्ञान हो तो पूर्व अनुभव स्मरण हो ही। होता सिर्फ़ यह है, कि नया प्रत्यक्ष होने पर पिछले अनुभवों से बने संस्कार अवश्य जाग्रत हो जाते हैं। कभी-कभी तो इन में से कोई संस्कार पूर्णतया जाग्रत हो जाते हैं और हमें कोई पूर्व अनुभव स्पष्टतया याद आ जाते हैं। मगर प्रायः यह संस्कार पूरी तरह पर उत्तेजित नहीं होते, केवल अपना प्रभाव नए अनुभव पर डाल देते हैं।

हमारे अनुभवों का रूप बहुत कुछ हमारे अपूर्ण प्रवृत्त संस्कारों से बनता है। उदाहरणार्थ पुस्तक लिखाते समय क्षण भर में हम बहुत से शब्द बोल जाते हैं। हर एक शब्द का अर्थ अनेक संस्कार-प्रवृत्तियों का परिणाम-रूप होता है। उसे हम भली-भाँति समझते हैं, परंतु पुस्तक

लिखाते समय हमें कोई शब्द अपने समस्त संसक्त शब्दों की याद नहीं दिलाता, यद्यपि अर्थ हम अच्छी तरह समझ लेते हैं।

जब हम "याद नहीं दिलाता", यह शब्द पढ़ते हैं तो हम यह नहीं कहते, "याद", "स्मृति," "पिछली बातों का फिर ध्यान करना", इत्यादि। फिर भी हम "याद नहीं दिलाता", इन शब्दों का अर्थ अच्छी तरह समझ लेते हैं। इन शब्दों से बहुत से संस्कार जाग्रत ज़रूर होते हैं, पर इतने जाग्रत नहीं होते कि पिछले अनुभवों को फिर ज्यों का त्यों हमारे सामने ले आवें, केवल अर्थापत्ति में सहायता देते हैं। फलतः प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए पूर्व अनुभव स्मरण आवश्यक नहीं, केवल पूर्वसंस्कार-जाग्रति आवश्यक है।

प्रत्यक्ष किस का होता है ?

विज्ञानभिक्षु का मत है कि इंद्रियों को ही सविकल्प प्रत्यक्ष होता है। पर वाचस्पति समझते थे कि इंद्रिय-जनित निर्विकल्पक प्रत्यक्ष को मन सविकल्पक बनाता है। केवल इंद्रिय को सविकल्पक प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। नैयायिकों का भी यही मत है कि इंद्रिय केवल जिस तत्व का वह बना होता है उस के लक्षण को ग्रहण करता है, और कुछ नहीं। आत्मा विविध इंद्रियों के प्रत्यक्षों को जोड़ता है और पूर्ण वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करता है।

मीमांसा का सिद्धांत भी यही है कि जब इंद्रियों का विषयों और विषयों का गुणों से संयोग होता है तब ही प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। जीववृत्ति-शास्त्र के लिए यह समझना ज़रूरी नहीं कि आत्मा क्या है, और जीव और आत्मा में कुछ भेद है या नहीं। जीववृत्तियों के समझने के लिए जीव को ही मानना काफ़ी है। जीववृत्ति-शास्त्र की दृष्टि से आत्मा और जीव एक ही है। यह शास्त्र जीवात्मा की वृत्तियों को समझने की कोशिश करता है, यह जानने की चेष्टा नहीं करता कि जीव से पृथक्

आत्मा क्या है। जीववृत्ति-शास्त्र के अनुसार जीव को ही सविकल्पक प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, इंद्रियों को नहीं।

मन क्या वस्तु है?

अब रहा मन का सवाल। वाचस्पति कहते थे कि मन प्रत्यक्ष को सविकल्पक बनाता है। बग़ैर मन के इंद्रिय को प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं हो सकता। मीमांसक भी मन का ज्ञानेंद्रियों से संयोग मानते हैं। सांख्य भी यही मानते हैं कि मन इंद्रिय सन्निहित विषय को ग्रहण करता और व्यक्तित्व प्रदान करता है। तात्पर्य यह कि प्रत्यक्ष ज्ञान के लिए मनोवृत्ति का होना आवश्यक है, पर मन क्या है, यह बड़ी कठिन समस्या है। मीमांसा के अनुसार मन एक प्रकार का परमाणु है, जो कि शरीर में वास करता है। चरक, न्याय और वैशेषिक मत भी यही है कि मन अनुपरिमाण है। इन सब मतों के अनुसार मन भौतिक पदार्थ हुआ, एक तरह से शरीर का एक सूक्ष्म अंग हुआ। निस्संदेह यह इतना सूक्ष्म है कि इस की रचना और इस के स्थान का हमें कुछ पता नहीं चल सकता। आधुनिक शरीर-विद्या बड़ी उन्नत है, फिर भी शारीरिक ज्ञान-वेत्ताओं ने अभी तक किसी ऐसे सूक्ष्म अंग का पता नहीं लगाया जिस को मन कह सकें। अतः पूर्ण वैज्ञानिक दृष्टि से हम मन को शरीर का अंग नहीं मान सकते। कर्मेंद्रिय शरीर के अंग हैं, क्योंकि इन को हम देख सकते हैं और इन की बाबत बहुत कुछ पता लगा सकते हैं। ज्ञानेंद्रियां भी शरीर के अंग हैं, क्योंकि सब ज्ञानेंद्रिय मज्जाकोष्ठों या मज्जातंतुओं के सिरे होते हैं। परंतु मन ऐसी कोई वस्तु नहीं।

प्राचीन मत

जैन-मत यह है कि इंद्रियों की आत्मा से पृथक् कोई स्थिति नहीं होती। आत्मा की ज्ञान शक्ति को ही इंद्रिय कहते हैं। इसी तरह मनन शक्ति को मन कहते हैं। मन की भी आत्मा से पृथक् कोई सत्ता नहीं। सांख्य मतानुसार मन इंद्रियजन्य ज्ञान प्राप्त करने की और उस को व्यक्तित्व

प्रदान करने की शक्ति है, और कुछ नहीं। शंकराचार्य अंतःकरण को भीतरी प्रादुर्भावों का समूह मानते थे। वे कहते थे कि जब अंतःकरण संशय रूप में प्रकट होता है तो वह मनस् कहलाता है।

मानसिक और वैज्ञानिक वृत्तियां

शंकराचार्य के इस सिद्धांत से कि मन एक प्रकार की जीववृत्तियों का समूह है हम सहमत हैं। पर ज्ञान-वृत्तियों के एक समूह को मन कहने की अपेक्षा, हम यह ज़्यादा उचित समझते हैं कि एक प्रकार की जीववृत्तियों को मानसिक कहा जाय। जब मन कोई विशेष पदार्थ ही नहीं, न शारीरिक न आत्मानुरूप, तो इस शब्द के प्रयोग करने ही की क्या ज़रूरत है? इस प्रयोग से संभव है कि पाठक भूल में पड़ जाँय और मन को भी आत्मा के सदृश सत्ता समझने लगें। लेखक का विचार है कि वृत्तियां दो प्रकार की होती हैं—मानसिक और वैज्ञानिक। वैज्ञानिक वृत्तियों की अपेक्षा मानसिक वृत्तियां प्रारंभिक होती हैं, नीचे दरजे की होती हैं। इन का प्रसिद्ध उदाहरण वस्तु-उपलब्धि है। वस्तु-उपलब्धि आदि वृत्तियां चैतनिक हैं। इन वृत्तियों में विषय-ज्ञान होता है, परंतु विषय-ज्ञान के साथ यह ज्ञान नहीं होता कि हमें अमुक वस्तु का ज्ञान हो रहा है। यह अज्ञात चेतनाएं होती हैं। क्योंकि इन चेतनाओं का हमें ज्ञान नहीं होता। बहुधा हमें कुछ काम करने की प्रवृत्ति होती है, और हम वह काम कर भी डालते हैं, पर हमें यह पता नहीं चलता कि अमुक प्रवृत्ति हुई। और कभी-कभी हमें यह भी पता नहीं चलता कि हम ने कुछ कार्य किया। यदि काम करने की सचेत प्रेरणा हो, और हमें उस का पता न चले तो वह अज्ञात चेतना है, और यदि चेतना के बिना ही कार्य पूर्ण हो जाय तो वह अचैतनिक क्रिया-वृत्ति है। अचैतनिक वृत्तियां भी अपेक्षया प्राथमिक होती हैं, अज्ञात चैतनिक वृत्तियां भी। प्रत्युत वैज्ञानिक वृत्तियां सदैव ज्ञात होती हैं, और मानसिक वृत्तियों की अपेक्षा उन्नत होती हैं। पशुओं में और बच्चों में इन का अभाव होता है। पशुओं और

बच्चों को प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। उन में कार्य करने की प्रवृत्तियां भी हो उठती हैं। पर उन्हें यह पता नहीं रहता कि हम में अमुकवृत्ति उपस्थित है। वे इतने परिष्कृत नहीं होते जितने प्रौढ़ मनुष्य होते हैं। उन में वृत्तियां होती हैं, पर उन्हें अपनी वृत्तियों का ज्ञान बहुत कम होता है। जीववृत्ति-विकास के दो क्रम हैं—एक मानसिक दूसरा वैज्ञानिक, एक प्रत्यक्षादि का क्रम दूसरा विचारादि का। छोटे बच्चे और पशु विकास के पहले पद पर होते हैं।

———

अध्याय ५

प्रत्यक्ष के विषय

न्याय, वैशेषिक और मीमांसा दर्शनों के अनुसार प्रत्यक्ष केवल पदार्थों का ही नहीं, बल्कि गुणों का भी होता है।

गुण-प्रत्यक्ष

गुण-प्रत्यक्ष को हम ने गुणोपलब्धि कहा है। गुणों का प्रत्यक्ष तो होता है, परंतु अकेले गुणों का ही कभी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। उदाहरणार्थ हमें केवल सफ़ेदी का कभी प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता। या तो सफ़ेद वस्त्र का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, या सफ़ेद पृष्ठ का, या और किसी सफ़ेद वस्तु का। केवल सफ़ेदी ही सफ़ेदी कहीं प्राप्त नहीं होती। किसी सफ़ेद वस्तु में ही सफ़ेदी हो सकती है। किसी सफ़ेद वस्तु के प्रत्यक्ष ज्ञान का विश्लेषण करने से ही सफ़ेदी गुण की उपलब्धि होती है। गुण मात्र का प्रत्यक्ष ज्ञान असंभव है। गुणोपलब्धि हमेशा वस्तु-उपलब्धि के पश्चात् होती है, क्योंकि गुणोपलब्धि वस्तु-उपलब्धि पर ही निर्भर है। न कभी यह होता है कि किसी गुण का प्रत्यक्ष ज्ञान बग़ैर किसी वस्तु के ज्ञान के हो जाय और न यह संभव है कि पहले गुणोपलब्धि हो जाय और फिर जिस वस्तु के गुणों का ज्ञान हुआ है उस की उपलब्धि हो। गुणोपलब्धि चेतना-विश्लेषण का परिणाम है वस्तु-उपलब्धि का विश्लेषण करने से गुणोपलब्धि होती है।

बौद्धों ने ठीक कहा है कि प्रत्यक्ष में अर्थाधिगति ही प्रधान है।

संबंध-प्रत्यक्ष

पदार्थों और गुणों के अतिरिक्त, पदार्थों के परस्पर संबंधों का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। उदाहरणार्थ जब हमें पृथिवी और मनुष्य का प्रत्यक्ष होता है, तो यह भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है कि मनुष्य पृथिवी के ऊपर है। जब हम

दो मनुष्यों को पृथिवी पर देखते हैं तो हमें यह भी प्रत्यक्ष होता है कि मनुष्य-मनुष्य में सादृश्य है और पृथिवी मनुष्य के असदृश है। यदि हम एक छोटा मनुष्य और एक बड़ा मनुष्य देखते हैं तो हमें यह भी प्रत्यक्ष होता है कि यह मनुष्य उस से छोटा है, वह इस से बड़ा है।

इसी तरह हमें त्रिकाल-संबंध का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यदि एक घटना पहले हो और दूसरी उस के पीछे, तो हमें केवल दो घटनाओं का ही प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, बल्कि इस बात का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है कि अमुक घटना पहले हुई और अमुक पीछे। काल-क्रम भी प्रत्यक्ष विषय है। इस के अतिरिक्त यदि कोई घटना देर तक होती रहे और कोई जल्दी समाप्त हो जाय, तो हमें इन दोनों का सामायिक भेद भी प्रत्यक्ष होता है। प्रत्यक्ष केवल क्षणिक घटनाओं का ही नहीं होता, बल्कि चिर-प्रवर्ती घटनाओं का भी होता है। चिर-प्रवर्ती घटना-संबंधी जीववृत्तियां भी चिर-प्रवर्ती होती हैं, थोड़े-बहुत समय तक चलती रहती हैं। जब हमें कोई प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तो उस के स्थिति-काल से हमें उपलब्ध विषय के स्थिति-काल का पता चल जाता है।

जाति-प्रत्यक्ष

कुछ दार्शनिकों का मत है कि पदार्थों और संबंधों के अतिरिक्त, वस्तु जाति का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। मीमांसकों का यह सिद्धांत है कि पदार्थ, गुण, जाति—इन सब का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। पर साथ ही वे यह भी कहते हैं कि अनुभव केवल व्यक्ति-रूप वस्तुओं का होता है। यदि प्रत्यक्ष ज्ञान का विषय व्यक्तिरूप वस्तु है, तो जाति का प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है? जाति में बहुत से व्यक्ति शामिल होते हैं। एक-एक व्यक्ति का पृथक्-पृथक् प्रत्यक्ष हो सकता है, या किसी व्यक्ति-समूह का प्रत्यक्ष हो सकता है। किसी जाति के सब व्यक्ति एक समय में एकत्रित नहीं होते कि उन का समाहृत प्रत्यक्ष हो जाय, तो फिर उन सब का प्रत्यक्ष कैसे हो सकता है?

बौद्धों का मत है कि हमें जाति का प्रत्यक्ष ज्ञान ज़रूर होता है, परंतु वह जाति व्यक्ति के ही अंतर्गत होती है, उस से पृथक् नहीं। जब हमें घट का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है तो घटत्व का भी प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। घटत्व घट में ही मौजूद है, उस से जुदा कुछ नहीं। वास्तव में जिस को हम घटत्व कहते हैं और जिस का प्रत्यक्ष ज्ञान हमें होता है वह घट जाति नहीं केवल कुछ गुणों का समूह है जो कि सब घटों में पाया जाता है। उस को जाति कहना ही भूल है। जाति व्यक्ति से बड़ी होती है। पर जिस को हम घटत्व कहते ही हैं वह घट-प्रत्यक्ष से कम होता है। जो घट हमारे सामने है वह सब घटों के समान गोल है, और मिट्टी का बना है। इस के अलावा उस का एक निज आकार है जो और किसी घट का नहीं। घटत्व में गोल होना और मिट्टी का बना होना शामिल है, परंतु इस घट का विशेष आकार शामिल नहीं। जब समस्त घट का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, तो उस की गुलाई और मिट्टी के बने होने का भी प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है। परंतु यह सब इस घट का ही ज्ञान है, और घटों का नहीं। फलतः प्रत्यक्ष ज्ञान केवल व्यक्ति-रूप वस्तुओं का ही होता है, वस्तु-जाति का नहीं।

बौद्ध-मत

इस प्रसंग में एक और कहने योग्य बात है। वह यह कि जो वस्तु इंद्रिय सन्निहित होती है उस का पूर्ण-रूप से प्रत्यक्ष ज्ञान होता है। यह नहीं होता कि प्रत्येक अवयव का पृथक्-पृथक् ज्ञान हो और फिर वे सब ज्ञान मिल कर वस्तु का सम्यक् ज्ञान बन जाँय। बल्कि, किसी अवयवी का प्रत्यक्ष ज्ञान होने के लिए यह ज़रूरी नहीं कि प्रत्येक अवयव का पृथक्-पृथक् प्रत्यक्ष ज्ञान हो ही। यह भी हो सकता है, और प्रायः होता है, कि कुछ अवयवों का प्रत्यक्ष ज्ञान हो, और शेष अवयवों का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होते हुए भी, समस्त अवयवी का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाय। जब हम बर्फ़ को

अवयवी-प्रत्यक्ष

देखते हैं तो हमें एक सफ़ेद ठंडी वस्तु का ज्ञान होता है, यद्यपि हम उस को छू नहीं रहे होते। बिना बर्फ़ के स्पर्श किए ही हमें उस की शीतलता का ज्ञान हो जाता है। इसी तरह हमें अपने मित्र का शब्द सुनते ही समस्त मित्र का प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। यही नहीं, बल्कि एक ही अवयव यदि कई अवयवियों में पाया जाय तो हर एक अवयवी में उस का रूप निराला दीख पड़ता है। बर्फ़ की शीतलता कुछ और है, ठंडे जल की कुछ और शीतल शय्या की कुछ और। परिणाम यह कि जब प्रत्यक्ष द्वारा कोई वस्तु-उपलब्धि हो तो यह ज़रूरी नहीं कि उपलब्ध वस्तु का प्रत्येक अवयव इंद्रिय-सन्निहित हो। एक आध गुणोपलब्धि से पूर्ण वस्तु की उपलब्धि हो जाती है। कुछ गुणों के उपलब्ध होते ही समस्त वस्तु उपलब्ध हो जाती है, बल्कि पहले वस्तु-उपलब्धि होती है और फिर वस्तु-उपलब्धि के विश्लेषण से गुण उपलब्ध होते हैं। हमें बर्फ़ दिखाई पड़ने से पहले केवल सफ़ेदी नहीं दिखलाई पड़ती, बल्कि छूटते ही एक सफ़ेद वस्तु दिखलाई पड़ती है।

अभाव-प्रत्यक्ष

यदि प्रत्यक्ष ज्ञान के प्रत्येक अवयव का इंद्रिय सन्निहित होना ज़रूरी नहीं, तो एक तरह से वस्तु अभाव का भी प्रत्यक्ष ज्ञान हो सकता है। यह तभी हो सकता है क जब किसी वस्तु का अभाव हमारे सामने जो विषय है उस में शामिल हो। कल्पना कीजिए कि हम एक मनुष्य को एक स्थान पर खड़ा देख कर चले जाते हैं और फिर तुरंत वापिस आकर उस को वहां नहीं पाते। हमारे इस दूसरे प्रत्यक्ष में मनुष्याभाव शामिल है और यद्यपि मनुष्य उस स्थान पर नहीं है तो भी यह कहना अशुद्ध नहीं कि मनुष्य के अभाव का हमें प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है। पहला प्रत्यक्ष "स्थान पर मनुष्य" का था। दूसरा प्रत्यक्ष "मनुष्य-रहित स्थान" का है। जैसे मनुष्य की स्थिति पहले प्रत्यक्ष का अवयव है, उसी प्रकार मनुष्य का अभाव दूसरे का अवयव है। और यदि हमें मनुष्य की स्थिति का प्रत्यक्ष

ज्ञान हो सकता है तो मनुष्य के अभाव का भी हो सकता है। परंतु इस का तात्पर्य यह नहीं कि दुनिया भर की सब वस्तुओं के अभाव का प्रत्यक्ष ज्ञान हमें प्रतिक्षण होता रहता है। केवल उसी वस्तु के अभाव का प्रत्यक्ष होता है जिस का अभाव इंद्रिय-सन्निहित विषय के अंतर्गत हो।

अध्याय ६

गुण-कल्पना और प्रत्यक्षानुकरण

पिछले दो अध्यायों में हम ने प्रत्यक्ष ज्ञान का विवरण किया है। इस अध्याय में हम परोक्ष ज्ञान की बाबत लिखेंगे।

प्रत्यक्षानुकरण

परोक्ष ज्ञान भी दो प्रकार का होता है। इस अध्याय में हम मानसिक परोक्ष ज्ञान का उल्लेख करेंगे, वैज्ञानिक का नहीं। यदि हम ने कोई वस्तु उपलब्ध की हो और फिर उस वस्तु के अभाव में हमें दुबारा उस वस्तु का ज्ञान हो, तो संभव है कि पूर्व प्रत्यक्ष ज्ञान के अनुरूप चेतनावृत्ति हम में फिर हो उठे। पर यह भी संभव है कि पूर्व प्रत्यक्ष की ऐसी कोई चेतनावृत्ति उपस्थित न हो, और फिर भी हमें असन्निहित वस्तु स्मरण हो जाय, और हम उस वस्तु की बाबत बात चीत कर सकें।

प्रत्यक्ष जैसी चेतनावृत्ति के पुनरुत्पादन को हम प्रत्यक्षानुकरण कहेंगे। यदि प्रत्यक्ष की ऐसी किसी चेतना का पुनरुज्जीवन न हो और फिर भी ज्ञान का विषय पूर्वोपलब्ध वस्तु ही हो, तो उस ज्ञान को प्रत्यय ज्ञान कहेंगे। उदाहरणार्थ, हम ने एक मनुष्य को देखा। वह मनुष्य हमारे सामने से चला गया। अब हम उस मनुष्य का फिर ज़िक्र करते हैं। यदि इस समय उस मनुष्य का चित्र, या उस का शब्दानुकार, या स्पर्शानुकार हमारे सामने है तो हमारी जीववृत्ति प्रत्यक्षानुकरण होगी। परंतु संभव है कि जो मनुष्य चला गया उस का ज़िक्र करते समय हमारे सामने उस की प्रतिमा आदि कुछ न हो और फिर भी हम उस मनुष्य की बात कर सकें। ऐसे समय जो उस मनुष्य का ज्ञान हमें होगा उसे प्रत्यय ज्ञान कहेंगे, प्रत्यक्षानुकरण नहीं।

गुण-कल्पना के संबंध में सब से पहले यह समझना ज़रूरी है कि जिस गुण की उपलब्धि हो चुकी है उस की कल्पना हो सकती है। ऐसे गुण की कभी कल्पना नहीं हो सकती जो कभी पूर्व में उपलब्ध न हो चुका हो। यदि किसी ने कोई लाल वस्तु कभी न देखी हो, तो वह लाल रंग की कल्पना नहीं कर सकता। यदि किसी ने कोई शब्द कभी नहीं सुना हो, तो वह उस शब्द की कल्पना नहीं कर सकता। प्रत्यक्ष अनुकारों का यह हाल नहीं। जिस वस्तु की कभी पहले उपलब्धि नहीं हुई हो उस का भी प्रत्यक्षानुकरण हो सकता है, अगर उस वस्तु के गुणों की पृथक्-पृथक् मिश्रित रूप में पहले उपलब्धि हो चुकी हो।

प्रत्यक्षानुकारों का वर्गीकरण

किसी ने सोने का बना हुआ जीवित मृग कभी नहीं देखा, फिर भी जिस मनुष्य ने सोना और जीवित मृग देखे हैं, वह सोने के जीवित मृग की कल्पना कर सकता है। यह कल्पना कुछ-कुछ ऐसी ही होगी जैसा कि यदि सोने का जीवित मृग होता, तो उस का प्रत्यक्ष ज्ञान होता। इस वास्ते इसे प्रत्यक्षानुकरण कहना ग़लती नहीं। किंतु प्रत्यक्षानुकारों की एक अजीब बात है कि उन में कल्पित गुण हमेशा वही नहीं होते जो कि अनुरूप वस्तु-उपलब्धि में होते हैं। वस्तु-कल्पना का स्वरूप जीव की अपनी रचना पर निर्भर होता है। कोई-कोई मनुष्य प्रायः चाक्षुष गुण कल्पना करते हैं, कोई-कोई श्रावण, और कोई त्वाक्। संभव है कि किसी-किसी समय रसना, घ्राण आदि और-और इंद्रिय-संबंधी गुण-कल्पनाएँ उपस्थित हो जायँ। पर बहुधा लोग तीन ही प्रकार की गुण-कल्पनाएँ करते हैं, हालाँकि प्रत्यक्ष बहुत प्रकार के होते हैं। जितनी ज्ञानेंद्रियां हैं उतने ही प्रकार का प्रत्यक्ष ज्ञान भी हो सकता है। कोई वस्तु कभी पेशियों द्वारा उपलब्ध होती है, कोई फेफड़ों द्वारा, कोई नासिका द्वारा, और कोई जीभ द्वारा।

और गुणों की अपेक्षा, सब मनुष्यों में रूप-कल्पना ज्यादा होती है।

जब हम कुछ सोचते हैं तो प्रायः किसी न किसी काल्पनिक व्यक्तिभेद वस्तु का चित्र हमारे सामने रहता है। जब हमें किसी चीज़ की याद आती है तो हमारे सामने उस चीज़ की प्रतिमा आ जाती है। इस साधारण नियम को छोड़ कर, गुण-कल्पना-वृत्ति में व्यक्तिभेद है। किसी-किसी मनुष्य के प्रत्यक्षानुकार लगभग सदैव चाक्षुष होते हैं। ये लोग जिन वस्तुओं का ज्ञान उन को सुन कर या छूकर प्राप्त हुआ है, उन वस्तुओं का भी प्रत्यक्षानुकरण प्रतिमा द्वारा करते हैं। और कोई-कोई मनुष्य शाब्दिक या त्वाक् कल्पनाएं कभी कर ही नहीं सकते। इन के विरुद्ध, कोई-कोई मनुष्य ऐसे होते हैं जिन के प्रत्यक्षानुकार प्रायः श्रावण होते हैं। यदि वे किसी चीज़ को देख भी लेते हैं तो भी उस का प्रत्यक्षानुकरण शब्द-कल्पना द्वारा करते हैं। जब वे किसी मनुष्य को या किसी चीज़ को याद करते हैं तो उन को उस मनुष्य का या उस चीज़ का शब्द याद आता है। परंतु कोई-कोई मनुष्य ऐसे होते हैं जिन के बहुत से प्रत्यक्षानुकरण त्वक् कल्पना द्वारा होते हैं। जब वे किसी पूर्वोपलब्ध वस्तु का विचार करते हैं, तो उन्हें प्रायः वह वस्तु नर्म है या सख़्त, पोली है या ठोस, इन बातों का ध्यान आता है।

इस तरह मनुष्य तीन प्रकार के हैं—चाक्षुष, श्रावण और त्वाक्। तात्पर्य यह नहीं कि चाक्षुष मनुष्य केवल चाक्षुष ज्ञान ही प्राप्त करते हैं, श्रावण मनुष्य केवल श्रावण, और त्वाक् मनुष्य केवल त्वाक्। बल्कि सिद्धांत यह है कि जो मनुष्य प्रायः दृष्टि-कल्पना करते हैं वे चाक्षुष होते हैं, जो प्रायः शब्द-कल्पना करते हैं वे श्रावण, और जो प्रायः स्पर्शकल्पना करते हैं वे त्वाक्। वास्तव में सभी मनुष्य थोड़ी बहुत तीनों प्रकार की गुण-कल्पना करते हैं, और शब्द-स्पर्श की अपेक्षा, दृष्टि-कल्पना ज़्यादा करते हैं।

अध्याय ७

अवधान

जीववृत्ति-शास्त्र की दृष्टि से चेतना-वृत्तियों का एक बड़ा महत्त्वपूर्ण नियम यह है कि जीवन में एक ही समय बहुत सी चेतना-वृत्तियां उपस्थित रहती हैं और उन में से किसी-किसी के विषय स्फुट, स्पष्ट होते हैं, किसी किसी के अस्फुट, अस्पष्ट। किताब लिखते समय विषय-संबंधी विचार स्पष्टतया हमारे सामने रहते हैं। परंतु केवल उन विचारों से संबंध रखने वाली वृत्तियां ही इस समय उपस्थित नहीं होतीं, और भी बहुत सी वृत्तियां उपस्थित रहती हैं। उदाहरणार्थ, हमें यह भी ज्ञान रहता है कि हमारे सामने पुस्तकें पड़ी हैं, हमारे पीछे दरवाज़ा है, हमारे पास लेखक बैठे हैं।

स्पष्ट और अस्पष्ट विषयी चेतना-वृत्तियां

गूढ़ विषय पर विचार करते हुए, यद्यपि ये सब चेतनाएं उपस्थित रहती हैं, ये स्फुट नहीं होतीं। थोड़े समय बाद यदि कोई पूछे कि उस वक्त अमुक वस्तु किस स्थान पर पड़ी थी, तो हम बता नहीं सकते। न यह बता सकते हैं कि दरवाज़े का खटका लगा था या नहीं, न यह कि लेखक महाशय का कोट काला था या नीला। पुस्तकों का, दरवाज़े का, लेखक का, हमें ज्ञान अवश्य था, पर इतना स्पष्ट न था कि उन की बाबत प्रश्नों का उत्तर कुछ समय बीतने पर भी दे सकें।

एक ही समय में कितनी ही चेतना-वृत्तियों के उपस्थित होने को जीवनवृत्ति-शास्त्रवेत्ताओं ने कई प्रकार से समझाने की कोशिश की है। कोई-कोई एक समय की चेतनाओं को एक क्षेत्र के समान बताते हैं, और कहते हैं कि चेतना-क्षेत्र के दो भाग होते हैं। एक केंद्रीय

प्रांतवर्ती चेतनाओं का लाभ

भाग, दूसरा प्रांतीय। एक ही समय में जो चेतनाएं उपस्थित रहती हैं उन में से कोई-कोई केंद्रवर्ती होती हैं, कोई कोई प्रांतवर्ती। केंद्रवर्ती चेतनाएं स्पष्ट-विषयी होती हैं, प्रांतवर्ती अस्पष्ट-विषयी। केंद्रवर्ती चेतनाओं की स्मृति रहती है, प्रांतवर्ती चेतनाओं को हम प्रायः भूल जाते हैं।

परंतु प्रांतवर्ती चेतनाएं निरर्थक नहीं होतीं। उन से हम को बहुत बातों का पता चलता रहता है। यदि वे न हों तो हम, स्वप्न की भाँति, जो कुछ हमारे सामने आजाय उसे यथार्थ समझलें। यदि इस समय प्रांतवर्ती चेतनाएं उपस्थित न हों और हमें मध्याह्न का ध्यान आ जाय, तो हम यह समझने लगें कि अब मध्याह्न है। और फिर यदि हमें कालिज का ध्यान आ जाय, तो हम समझने लगें कि हम कालिज में हैं, इत्यादि। रात्रि-संबंधी प्रांतवर्ती चेतनाओं के इस समय उपस्थित रहने से, यदि मध्याह्न का ज़िक्र हो, तो हम तुरंत समझ लेते हैं कि यह रात्रि-समय है, मध्याह्न नहीं, और घर-संबंधी प्रांतवर्ती चेतनाओं की बदौलत, यदि कालिज का ज़िक्र हो, तो हम जान लेते हैं कि हम घर में है, कालिज में नहीं। जीव की उस साधारण अवस्था को जिस में केंद्रवर्ती और प्रांतवर्ती दोनों प्रकार की चेतनाएं एक साथ उपस्थित रहती हैं सावधान अवस्था कहते हैं।

अवधान का फ़ायदा यह है कि एक तरह से परिस्थिति का निरंतर ज्ञान रहते हुए भी, हमें उन विषयों का स्पष्ट और प्रबल ज्ञान हो जाता है जिन पर हम विचार करना चाहते हैं। जिस काम में हम लगे होते हैं उस का हमें स्पष्ट ज्ञान होता है, पर अन्य अनेक बातों का भी उसी समय अस्पष्ट ज्ञान रहता है। जब कोई आप से कहता है "सावधान", तो उस का मतलब यह होता है कि इस समय जो विषय स्पष्ट रहने चाहिएं उन्हीं को स्पष्ट रक्खो, दूसरों को नहीं, जो चेतनाएं केंद्रवर्ती होनी चाहिएं उन्हें केंद्रवर्ती रक्खो, और जिन चेतनाओं का इस समय प्रांतवर्ती रहना उचित है उन्हें चेतना-केंद्र में न आने दो।

यदि जब हम पहाड़ पर बिना रास्ते चढ़ते हों कोई हम से कहे, "सावधान रहना" तो इस का अर्थ यह होगा कि केंद्रवर्ती चेतनाओं का विषय हमारा पहाड़ पर चढ़ना ही रहे, और कुछ नहीं—जीववृत्तिशास्त्र-संबंधी विचार नहीं। परंतु यदि इस पुस्तक लिखाते समय कोई हम से कहे "सावधान" तो हम यह समझेंगे कि जीववृत्तिशास्त्र-विचार ही चेतना-केंद्र में रहने चाहिए, और कोई नहीं। सावधानता का अर्थ यही है कि बहुत से विषय एक साथ चेतना-क्षेत्र में रहते हुए भी, वही विषय स्पष्ट और प्रबल होने चाहिए जो उस समय उपयोगी हों।

निरवधान

चाहे कोई विषय स्पष्ट रहे और चाहे कोई अस्पष्ट, परंतु यदि एक समय में एक से ज़्यादा स्पष्ट और अस्पष्ट विषय क्षेत्र में उपस्थित हों, तो जीव की उस समय की अवस्था का नाम अवधान होगा। विपरीत इस के, यदि एक समय में एक ही चेतना उपस्थित हो और स्पष्ट और अस्पष्ट चेतनाएं एक साथ चेतना क्षेत्र में न हों, तो जीव की इस अवस्था को निरवधान कहेंगे। निरवधान अवस्था में समस्त चेतना-क्षेत्र समान-रूप रहता है। न कोई इस का केंद्र होता है, न प्रांत—न कोई चेतना केंद्रवर्ती होती है, न कोई प्रांतवर्ती। स्वप्न देखते समय हमारी यही दशा होती है। और यही कारण है कि स्वप्न में जो कोई भी प्रत्यक्षानुकार उपस्थित होते हैं वे प्रत्यक्ष ही समझे जाते हैं। स्वप्न अवस्था में प्रत्यक्ष और कल्पना में भेद समझने का कोई साधन नहीं रहता। जिस समय कोई चेतनावृति उपस्थित होती है उस समय और प्रांतवर्ती चेतनाएं यह बताने के लिए नहीं होतीं कि अमुक बात ठीक है, अमुक ग़लत। निरवधान अवस्था में चेतनाएं एक-एक करके आती हैं, और जो चेतना उपस्थित होती है वही प्रत्यक्ष मूल समझी जाती है। जिन वस्तुओं का वास्तव में अभाव होता है वे भी सब यथार्थ मान ली जाती हैं। उन की उपस्थिति में शंका नहीं होती, क्योंकि हम अपनी परिस्थिति को भूले रहते हैं। कई चेतनावृत्तियों का एक साथ

उपस्थित रहना एक और तरह से भी बड़ा उपयोगी है। चेतनावृत्तियों के समूह एक के पीछे एक आते रहते हैं। परंतु यह कभी नहीं होता कि हमारी, स्पष्ट और अस्पष्ट, सब चेतनाएं एक दम बदल जाँय। किसी क्षण भी ऐसा नहीं होता कि पिछले क्षण की समस्त चेतनावृत्तियों का अभाव हो जाय, और बिल्कुल नई चेतनाएं उत्पन्न हो जाँय। यदि कदाचित् ऐसा हो जाय तो हमें यह ज्ञान ही न रहे कि हम वही मनुष्य हैं जो पहले थे, हमारा ऐक्य ही न रहे। यदि एक समय में एक ही चेतनावृत्ति उपस्थित रहती तो उस के बदल जाने से हमारी यह दशा हो जाती।

चेतना-प्रवाह

क्योंकि प्रतिक्षण नवीन चेतनावृत्ति-समूह प्रकट नहीं होते, रहते इस कारण चेतना अनुक्रम को चेतना प्रवाह कहते हैं। एक क्षण की चेतनावृत्तियां दूसरे क्षण की चेतनावृत्तियों से कदाचित् पूर्णतया पृथक् नहीं होतीं। दो पार्श्ववर्ती क्षणों की चेतनावृत्तियों में कोई न कोई सामान्यवृत्ति अवश्य रहती है। चेतना-प्रवाह भी नदी-प्रवाह के समान होता है। नदी का पानी प्रति क्षण बदलता रहता है। पुराना पानी आगे चला जाता है। नया पानी आ कर उस की जगह ले लेता है। फिर वह पानी भी चला जाता है और और पानी उस स्थान में आ जाता है। फिर भी नदी वह की वही रहती है। नदी प्रति क्षण नहीं बदलती। ठीक इसी तरह पर जीववृत्तियां भी बदलती रहती हैं। प्रति क्षण की जीववृत्तियां नई होती हैं। फिर भी जीव वह का वही रहता है। वृत्तियां बदलती रहती हैं, पर जीव नहीं बदलता। कारण यही कि नई और पुरानी जीववृत्तियों में कुछ न कुछ सामान्य अंश अवश्य रहता है।

चेतना-तरंगें

इस नियम को कि सावधान अवस्था में एक से ज़्यादा जीववृत्तियां एक साथ उपस्थित रहती हैं, शास्त्रवेत्ताओं ने दूसरे ढंग से यों समझाया है कि चेतना-प्रवाह कभी समतल नहीं रहता। उस में लहरें उठती रहती हैं। कोई-कोई चेतना विषय मानो चेतना-प्रवाह की लहरों के शिखर पर रहते

हैं और कोई-कोई उन के नीचे के हिस्से में। शिखरवर्ती विषय स्पष्ट, स्फुट होते हैं। तलवर्ती अस्पष्ट, अस्फुट। जैसे कि जल-तरंगों के शिखर और तल एक साथ उपस्थित रहते हैं, उसी तरह स्पष्ट और अस्पष्ट चेतना विषय दोनों एक ही समय हमारे सामने रहते हैं।

किसी विषय को चेतना केंद्र में लाने का नाम ही अवधान है।

ऐच्छिक और अनैच्छिकअवधान

अवधान-क्रिया कभी ऐच्छिक होती है, कभी अनैच्छिक कोई-कोई विषय स्वयमेव चेतना-केंद्र में प्रवेश कर लेते हैं। परंतु किसी-किसी विषय का ध्यान करने के लिए हमें प्रयत्न करना पड़ता है। जो अवधान बिना प्रयास उत्पन्न हो जाता है उसे अनैच्छिक अवधान कहते हैं। कुछ काम करते-करते स्वयमेव तेज़ रोशनी की तरफ़ या ऊँचे शब्द की तरफ़ ध्यान चला जाना अनैच्छिक अवधान है। प्रखर प्रकाश, तुमुल शब्द, और चलती हुई वस्तु की ओर बिना प्रयास ही हमारा ध्यान जाता है। दार्शनिक विचारों को सामने रखने के लिए हमें कोशिश करनी पड़ती है। सप्रयास अवधान ऐच्छिक अवधान कहलाता है, अप्रयास अवधान अनैच्छिक।

जीवगति का एक नियम यह है कि प्रत्येक जीववृत्ति के दो कारण होते हैं—एक विषय-संयोग और दूसरा जीव-संस्कार। प्रत्येक जीववृत्ति किसी न किसी इंद्रिय उत्तेजना से शुरू होती है। यह संभव है कि पहले इंद्रिय-ज्ञान और फिर उस के कारण कोई और वृत्ति उपस्थित हो, इस वृत्ति के कारण कोई तीसरी वृत्ति पैदा हो, और इसी तरह वृत्ति-प्रवाह चलता रहे। परंतु शुरू में इंद्रिय उत्तेजना का होना ज़रूरी है। पर इंद्रिय-विषय सन्निहित होते हुए भी जब तक कोई संस्कार प्रवृत्त न हो कोई जीववृत्ति उत्पन्न नहीं हो सकती। केवल विषय-संयोग जीववृत्ति का कारण नहीं हो सकता। अतएव हम देखते हैं कि दो मनुष्यों को एक ही विषय सन्निहित होने पर भी उन की जीववृत्तियां सर्वथा समान नहीं होतीं। एक मनुष्य को जीववृत्तियां दूसरे मनुष्य की जीववृत्तियों से

भिन्न ही रहती हैं। इस भेद का कारण यही है कि एक मनुष्य के संस्कार दूसरे के संस्कारों से भिन्न होते हैं।

अवधान के कारण

अवधान-क्रिया भी एक प्रकार की जीववृत्ति है। नियमानुसार, इस के दो कारण होने चाहिएं—एक विषय-संयोग और दूसरा संस्कार-प्रवृत्ति। और होता भी यही है। जब कभी अवधान-क्रिया होती है, आरंभ में विषय-संयोग अवश्य होता है। और जब कभी कोई विषय चेतना-केंद्र में आता है कोई न कोई संस्कार अवश्य उत्तेजित होता है। अवधान-प्रेरक संस्कारों को रुचि भी कहते हैं। जब तक हमें किसी विषय में रुचि न हो हम उस की ओर ध्यान नहीं देते। और यदि किसी विषय में हमारी रुचि हो तो वह, चाहे कितना ही प्रच्छन्न क्यों न हो, हमारे चेतना-केंद्र में आ ही जाता है।

किसी-किसी वस्तु में हमारी जन्म से ही रुचि होती है, क्योंकि वे वस्तुएं हमारे जीवन के लिए महत्वपूर्ण होती हैं। उदाहरणार्थ, छोटे बच्चे के लिए माता के स्तन जन्म से ही रुचिकर होते हैं। जिन-जिन वस्तुओं से अधिक हानि या लाभ पहुँचने की संभावना होती है, उन वस्तुओं के संबंध में प्रकृति ने पहले ही से हमारे अंदर संस्कार बैठा दिए हैं। शुरू ही से बच्चों में भय होता है, क्रोध होता है, औत्सुक्य होता है। इन संस्कारों का हाल हम आगे चल कर लिखेंगे। प्रबल प्राकृतिक संस्कारों के कारण अनैच्छिक अवधान उत्पन्न होता है। प्रबल संस्कार प्रवृत्त होकर ही, बिना प्रयत्न किए, रुचिकर विषय की ओर ध्यान चला जाता है, चाहे अपने काम में हम कितने ही मग्न क्यों न हों। यदि हमारे निकट कोई बंदूक़ चलाए, तो हमारा ध्यान अवश्य बंदूक़ की आवाज़ की तरफ़ चला जाता है, और जो काम हम कर रहे होते हैं वह क्षण भर के लिये चेतनाप्रांत में जा पड़ता है।

अर्जित संस्कारों का परिणाम भी कुछ-कुछ ऐसा ही होता है जैसा

प्राकृतिक संस्कारों का, विशेषतः यदि वे प्रबल हो गए हों। यदि हम किसी दूसरे काम में लगे हों तो भी कोई मनोवृत्ति-शास्त्र की बात करे तो हमारा ध्यान अपने काम से हट कर उस बात की ओर चला जाता है। जीववृत्ति-ज्ञान-संबंधी संस्कार प्राकृतिक नहीं होते, पर चूंकि हम ने बार-बार जीववृत्ति-शास्त्र का ध्यान इस जीवन में किया है, हमारे अंदर जीववृत्ति-शास्त्र-संबंधी प्रबल संस्कार पैदा हो गए हैं। यही कारण है कि बिना प्रयास हमारा ध्यान जीववृत्ति-शास्त्र-संबंधी विचारों की ओर चला जाता है, और हमारे लिए जीववृत्ति-शास्त्र-संबंधी सरल विषयों को अप्रयास अवधान देना संभव है। नहीं तो जीववृत्ति-शास्त्र ऐसा गूढ़ विषय है कि यदि कोई इस पर विचार करना चाहे तो अवश्य उस की अवस्था ऐच्छिक अवधान की होगी। प्रत्येक मनुष्य में जीववृत्ति-शास्त्र-संबंधी संस्कार नहीं होते। यही कारण है कि प्रत्येक मनुष्य का ध्यान इस विषय संबंधी विचारों की तरफ़ आसानी से नहीं जाता। यदि कोई चाहे कि ये विचार उस के चेतना-केंद्र में आ जायँ तो उसे प्रयत्न करना पड़ता है।

तात्पर्य यह नहीं कि ऐच्छिक अवधान के लिए संस्कारों की आवश्यकता नहीं है। संस्कार-प्रवृत्ति ऐच्छिक अवधान के लिए भी ज़रूरी है। वास्तव में जिस क्षण हम यह निश्चय कर लेते हैं कि अमुक काम करना है, उस ही क्षण एक नया संस्कार हम में बन जाता है। वही संस्कार उस काम के अवधान का कारण होता है। पर वह संस्कार नया ही होता है, तात्कालिक होता है, और इतना प्रबल नहीं होता कि अनैच्छिक अवधान उपस्थित कर दे। उस संस्कार की सहायता के लिए प्रयत्न की ज़रूरत रहती है। परिणाम यह होता है कि हमारी अवस्था ऐच्छिक अवधान की रहती है। इच्छा का भी कोई न कोई प्रयोजन होता है। और वह प्रयोजन भी हम में संस्कार-रूप में ही रहता है। इस संस्कार से हमें अवधान में सहायता मिलती है। सारांश यह कि अवधान के लिए संस्कार की

ज़रूरत तो हमेशा होती है, पर अनैच्छिक अवधान के लिए चिरकालिक प्रबल संस्कारों की ज़रूरत होती है, ऐच्छिक अवधान के लिए तात्कालिक अपेक्षतया दुर्बल संस्कार ही काफ़ी होते हैं, क्योंकि उस का आधार पूर्ववर्ती प्रयोजन होते हैं।

अध्याय ८

अवधान के विषय और स्थिति-काल

अवधान का विस्तार

किसी-किसी जीववृत्ति-वैज्ञानिक का मत है कि हम एक ही समय में कई बातों पर ध्यान दे सकते हैं। ऐसे प्रतिभाशाली मनुष्य हुए हैं जिन्हों ने एक ही समय में कई-कई कठिन प्रश्न ध्यान में रक्खे हैं और सब के उत्तर जल्दी जल्दी दिए हैं।

मनुष्य एक वक्त एक ही ओर ध्यान दे सकते हैं या बहुत सी बातों को एक साथ ध्यान में रख सकते हैं, इस समस्या को हल करने के लिए शास्त्रवेत्ताओं ने कुछ परीक्षण भी किए हैं। एक मामूली परीक्षण यह है कि दो आसान काम ले लेते हैं और विषयी को उन में से एक काम करने को देते हैं और देखते हैं कि एक मिनिट में उस ने कितना काम किया। फिर उसे दूसरा काम करने को देते हैं और देखते हैं कि यह काम उसने एक मिनिट में कितना किया। फिर उसे दोनों काम एक साथ करने को देते हैं और देखते हैं कि एक मिनिट में अब वे दोनों काम वह कितनी मात्रा में करता है। उदाहरणार्थ, मान लीजिए कि एक मिनिट में अ, आ, इ, ई, आदि अक्षर वह विषयी सौ लिख देता है, और एक मितिट में एक, तीन, पाँच, सात आदि विषम अंक एक सौ कह देता है। अब यदि विषयी से कहा जाय कि वर्णमाला के अक्षर भी लिखते जाओ और साथ-साथ विषम अंक भी कहते जाओ, तो मालूम होगा कि दोनों काम साथ करता हुआ विषयी न एक मिनिट में सौ अक्षर लिख सकता है और न सौ अंक कह सकता है। संभवतः वह एक मिनिट में साठ अक्षर लिखेगा और

साठ अंक कहेगा। कारण यह कि जिस क्षण में वह अक्षर लिखने का ध्यान करेगा अंक उस के ध्यान से उतर जायेंगे, और जिस क्षण में वह अंकों का ध्यान करेगा वह अक्षरों का ध्यान नहीं कर सकेगा। यदि कोई इन दोनों कार्यों को एक साथ चेतना-केंद्र में रख सके तो बेशक वह एक मिनिट में एक सौ अक्षर भी लिख ले और साथ ही एक सौ अंक भी कह सके।

चतुर विषयी कभी-कभी ऐसा करते हैं कि जिस समय वह एक अक्षर लिखते हैं ठीक उसी क्षण एक अंक बोलते हैं, और इस तरह अक्षर लिखने के और अंक बोलने के कार्यों को ऐसा मिला देते हैं कि वह एक ही कार्य बन जाते हैं। इस तरह पर चतुर विषयी एक मिनिट में दो सौ के दो सौ कार्य पूरे कर सकते हैं। उन को अक्षर लिखने की ओर और अंक बोलने की ओर पृथक्-पृथक् ध्यान नहीं देना पड़ता। उन के लिए एक अक्षर लिखना और एक अंक बोलना मिल कर एक ही कार्य रहते हैं, और यह ज़रूरी नहीं होता कि जब वे अक्षर लिखने को चेतना केंद्र में लाएं तो अंक कहने की ओर से अपना ध्यान हटावें। सारांश यह कि असल में हम एक क्षण में एक ही विषय को चेतना-केंद्र में रख सकते हैं। पर वह विषय सरल भी हो सकता है, और विषम भी। विषम विषयों के कई कई अवयव होते हैं। और हम कई अवयवों के एक अवयवी को भी उसी तरह चेतना-केंद्र में स्थान दे सकते हैं कि जैसे किसी एक अवयव को दे सकते हैं। पर यदि अवयव पृथक्-पृथक् रहें, तो एक समय में एक ही अवयव चेतना-केंद्र में आ सकता है, ज़्यादा नहीं।

अवधान-विस्तार-संबंधी एक और परीक्षण यह है कि बहुत से विंदु बहुत से अक्षर, या बहुत से अंक, किसी विषयी को इतने थोड़े काल तक दिखाए जाते हैं कि वह उन को गिन नहीं सकता। फिर विषयी से पूछा जाता है कि उस ने कितने विंदु, कितने अक्षर, या कितने अंक देखे। इस परीक्षण से पता लगता है कि एक क्षण में हम पाँच या छः चीज़ें

देख सकते हैं, इस से ज्यादा नहीं। परंतु इस का मतलब यह नहीं कि पाँच या छः वस्तुओं को एक साथ ध्यान में ला सकते हैं। असल में होता यह है कि हम पाँच छः विंदु आदि का एक आकार बना लेते हैं, पाँच छः अवयवों का एक अवयवी बना लेते हैं।

इस प्रयोग से केवल यही पता लगता है कि यदि अवयव किसी विशेष ढंग से जुड़े न हों तो पाँच या छः से ज्यादा अवयवों का अवयवी बनाना कठिन है, प्रायः असंभव होता है। हाँ यदि विंदु, या अक्षर, या अंक किसी तरीके से सजा दिए जाँय, तो हम पाँच-छः से ज़्यादा अवयवों का भी एक अवयवी आसानी से बना सकते हैं। उदाहरणार्थ, यदि विंदु आदि के निम्नलिखित आकार बना दिए जायँ तो बहुत से अवयवों को हम एक साथ ध्यान में ला सकते हैं :—
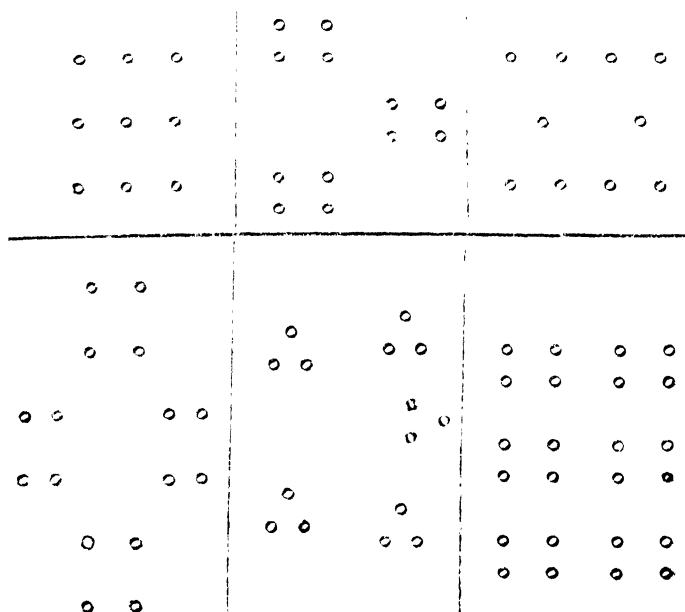
यह सत्य है कि सब लोग, विशेषतः प्रतिभाशाली मनुष्य, एक समय में कई-कई काम कर सकते हैं—एक ही समय में एक चिट्ठी पढ़ सकते हैं एक चिट्ठी किसी लेखक को लिखा सकते हैं, और तीसरी चिट्ठी सुन सकते हैं। पर यह सब काम करते हुए भी वे मनुष्य तीनों पत्रों को एक साथ चेतना-केंद्र में नहीं रखते। वे करते यह हैं कि पहले क्षण में पहले पत्र की ओर ध्यान देते हैं, फिर दूसरे की ओर, और फिर तीसरे की ओर। उन की दक्षता इसी में है कि वे बहुत जल्दी-जल्दी एक पत्र से दूसरे पत्र की ओर ध्यान ले जाते हैं। एक और काम जो वे करते हैं, वह यह है कि एक बार एक विषय को सोच कर, बिना ध्यान दिए ही, उस विषय संबंधी वाक्य लिखाते रहते हैं। यह ठीक है कि एक साथ वे वह वाक्य भी लिखाते रहते हैं और दूसरा पत्र सुनते भी रहते हैं। परंतु कभी दोनों पत्र स्पष्टतया एक क्षण में उन की चेतना में नहीं रहते। दूसरी चिट्ठी सुनते समय जो वाक्य वे लिखा रहे होते हैं, वे चेतना प्रांत में ही रहते हैं। परंतु दूसरों को ऐसा प्रतीत होता है कि वे दोनों पत्रों की ओर एक साथ ध्यान दे रहे हैं। सारांश यह कि हम एक से ज़्यादा काम एक साथ कर सकते हैं, यद्यपि एक से ज़्यादा विषयों को एक साथ चेतना केंद्र में नहीं रख सकते।

अवधान का स्थिति-काल

अवधान को बाबत एक और सवाल यह है कि हम किसी विषय पर कितनी देर तक निरंतर ध्यान दे सकते हैं? कभी कभी हम घंटों एक बात को सोचते रहते हैं, या एक ही काम को करते रहते हैं। यह ठीक है कि बहुत देर तक एक ही काम में हमारा ध्यान लगा रहता है, परंतु यदि वैज्ञानिक दृष्टि-कोण से देखा जाय, तो जिस को हम एक काम कहते हैं वह बहुत से कामों का मिल कर बना होता है। उदाहरणार्थ जब हमारा ध्यान जीववृत्ति-शास्त्र में लगा होता है, तो जीववृत्ति-शास्त्र-संबंधी अनेक विचार एक के पीछे एक आते हैं जीववृत्ति-शास्त्र एक

विषम विपय है, जो बहुत से अंगों का बना है। हम एक क्षण में एक अंग की ओर ध्यान देते हैं, दूसरे क्षण में दूसरे अंग की ओर। इत्यादि। यदि हम सफ़ेद काग़ज़ के टुकड़े जैसी किसी अविपम वस्तु की ओर ध्यान देने का प्रयत्न करें तो हमें पता लग जाय कि ध्यानावस्थित चेतना साधारणतया पाँच छः सेकिण्ड से ज़्यादा देर तक स्थिर नहीं रह सकती।

वैज्ञानिक प्रयोगों से भी यही पता चलता है। योगियों की और बात है। वे शायद वर्षों तक समाधि लगाए बैठे रह सकते हैं। पर साधारण मनुष्य किसी अविपम वस्तु की ओर पाँच या छः सेकिंड से ज़्यादा ध्यान नहीं दे सकते। इस अर्थ में अवधान का स्थिति काल पाँच-छः सेकिंड है। हां विषम विषयों में बहुत देर तक ध्यान लगा रह सकता है, क्योंकि वे बहुत से हिस्सों के बने होते हैं, और वास्तव में ध्यान क्षण-क्षण के पश्चात् एक भाग से दूसरे भाग को जाता रहता है। एक चीज़ पर ध्यान बहुत देर तक नहीं लगा रह सकता, बहुत सी चीजों के बने हुए एक विपय पर लगा रह सकता है।

अध्याय ९

राजस संस्कार

हम पहले कह चुके हैं कि प्रत्येक जीववृत्ति अपने पीछे अपना प्रभाव छोड़ जाती है। जीववृत्तियों के प्रभाव प्राणियों में संस्कार-रूप में रहते हैं। संस्कार क्षणिक नहीं होते। जिस समय कोई संस्कार प्रवृत्त नहीं भी होता, उस समय भी वह जीव में रहता है। संस्कार स्थायी होते हैं। जीववृत्ति उठती है, कुछ समय तक चलती रहती है, फिर लोप हो जाती है। संस्कार सदैव जीव के साथ रहते हैं। वे जीव-रचना के भाग होते हैं। हमारे प्राकृतिक संस्कार और जन्म से लेकर अब तक हम ने जितने अनुभव किए हैं उन सब के संस्कार हम में मौजूद हैं, और उन्हीं के कारण हम और सब मनुष्यों से भिन्न हैं।

प्राकृतिक संस्कार

इस जन्म की जीववृत्तियों से जो संस्कार बनते हैं वे अर्जित कहलाते हैं। अर्जित संस्कारों के अतिरिक्त, सब प्राणियों में कुछ प्राकृतिक संस्कार भी होते हैं, जो कि वे अपने साथ लेकर दुनिया में आते हैं। कोई-कोई प्राकृतिक संस्कार व्यक्तिगत होते हैं। वे किसी व्यक्ति में पाए जाते हैं, किसी में नहीं। पर कोई-कोई संस्कार जातीय होते हैं। वे जाति के प्रत्येक व्यक्ति में पाए जाते हैं। और कोई-कोई संस्कार प्राणि-मात्र में पाए जाते हैं, चाहे वे किसी जाति के क्यों न हों। अपने आप को सब प्रकार की हानियों से बचाना ऐसा कार्य है कि इसे सब जीव करते हैं। आत्म-रक्षा-संबंधी संस्कार सब प्राणियों में पाए जाते हैं। मनुष्य से लेकर नीचे से नीचा जीव तक अपने आप को बचाने की कोशिश करता है।

कोई-कोई छोटे जीव-जंतु छिप जाते हैं, कोई दम चुरा कर पड़ जाते हैं, कि उन के हिंसक उन का पता न चला सकें, और कोई-कोई लड़ने को तैयार हो जाते हैं।

पूर्ण और अपूर्ण संस्कार

संस्कारों में एक और भी भेद होता है। कोई-कोई संस्कार केवल ज्ञान-संबंधी होते हैं, कोई-कोई क्रिया-संबंधी। पर कोई-कोई संस्कार ज्ञान-संबंधी भी होते हैं और साथ ही क्रिया-संबंधी भी। इस कारण वे पूर्ण संस्कार कहे जाते हैं। यदि किसी संस्कार के प्रवृत्त होने से किसी इंद्रिय-सन्निहित या परोक्ष पदार्थ का ज्ञान हो तो उसे ज्ञान-संस्कार समझना चाहिए। और यदि किसी संस्कार-प्रवृत्ति के कारण कोई कार्य किया जाय तो उसे क्रिया-संस्कार समझना चाहिए। परंतु पूर्ण संस्कार वे होते हैं, जिन के कारण किसी ज्ञान की भी संभावना हो और किसी क्रिया की भी। उदाहरणार्थ, सब मनुष्यों में एक ऐसा संस्कार होता है कि यदि उन की परिस्थिति में कोई डरावना शब्द हो रहा हो तो उन्हें उस का प्रत्यक्ष ज्ञान भी हो जाता है, और साथ ही वे जिस दिशा से वह शब्द आ रहा होता है, उस से इतर दिशा में भागने भी लगते हैं।

पूर्ण प्राकृतिक संस्कार ही जीव-मात्र की समस्त प्रवृत्तियों का मूल आधार है। जो कुछ कोई प्राणी करता है वह अंत में इन्हीं संस्कारों से प्रेरित होता है। यदि इन संस्कारों को रजोगुण का विशेष रूप कहा जाय तो अशुद्ध न होगा। जब कभी किसी प्राणी को किसी कार्य करने की प्रेरणा होती है, उस प्रेरणा का अंतिम कारण यही प्राकृतिक संस्कार होते हैं। कभी-कभी तो पूर्ण प्राकृतिक संस्कार अपने प्राकृतिक रूप में ही प्रवृत्त हो सकते हैं, पर कभी-कभी उन में जीव के अनुभवों के कारण कुछ परिवर्तन हो जाते हैं, और वे विकृत रूप में प्रवृत्त होते हैं।

. ज्ञान करत ही वह दौड़ने नहीं लगता। मनुष्य प्रायः क्षण भर सोचता है कि क्या करना चाहिए, और फिर उचित कार्य करता है। यह प्रवृत्ति सर्वथा प्राकृतिक नहीं, न्यूनाधिक विकृत है।

क्रोध

एक और महत्वपूर्ण राजस संस्कार क्रोध है। जब शत्रु प्रबल होता है तो हम भयभीत हो जाते हैं। परंतु यदि शत्रु निर्बल हो तो हम क्रुद्ध हो जाते हैं और भागने की बजाय शत्रु से लड़ने की चेष्टा करते हैं। अभिप्राय तो वही होता है—अपने आपको शत्रु से बचाना—परंतु बचाने की विधि भय-विधि से भिन्न होती है। भय-विधि छुपना, भागना आदि है, क्रोध-विधि मारना, पीटना, चिल्लाना आदि।

जब क्रोध-संस्कार प्रवृत्त होता है तो भी, भय-संस्कार की भाँति, हम तुरंत शत्रु का प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं। परंतु क्रोध-संस्कार उत्तेजित होने पर हम शत्रु को मारने की या उसे भगाने की चेष्टा करते हैं, उस से बच कर भागने की नहीं।

कुतूहल

कुतूहल भी एक बड़ा उपयोगी राजस संस्कार है। जानवरों में यह संस्कार प्रधान नहीं, पर मनुष्यों में यह बड़ा महत्त्वपूर्ण है। यदि बच्चों में कुतूहल न हो तो वे बाल्यावस्था में इतना विस्तृत ज्ञान कभी प्राप्त न कर सकें। कुतूहल के कारण बालक प्रत्येक नई वस्तु को ध्यान से देखते हैं, उसे उलटते-पलटते हैं, उस के शब्द सुनते हैं, और उस के अवयवों को पृथक् करने की चेष्टा करते हैं। बड़े हो कर कुतूहल जिज्ञासा में बदल जाता है।

संचय

संचय-संस्कार भी हम अपने साथ ही लेकर आते हैं। दश[illegible] लिखा है कि मनुष्य-मात्र में लोभ होता है। लोभ संचय-संस्कार का ही [illegible] रूप है। मनुष्य [illegible] इसी कारण हो [illegible] कि उन में संच[illegible]

यह रजस प्राणियों को विविध कार्यों में प्रवृत्त करता है। २८.

राजस संस्कार

प्रवृत्ति के बहुत से विशेष रूप होते हैं। किसी समय रजस किसी रूप में प्रकट होता है, और किसी समय किसी रूप में। इस तरह देखो तो बहुत से रजोगुणी संस्कार होते हैं। प्रायः सब पशु-जातियों के राजस संस्कार अपने-अपने अलग होते हैं, और मनुष्य-जाति के अलग। मानुषी राजस संस्कारों में निम्नलिखित संस्कार प्रधान हैं। उन में से बहुत से जानवरों में भी पाए जाते हैं। पर कोई-कोई केवल मनुष्यों में ही होते हैं।

भय

भय शायद हमारा सब से महत्वपूर्ण राजस संस्कार है। बहुत से काम हम किसी न किसी बात से डर कर करते हैं। आदमी और जानवर जितना मृत्यु से डरते हैं और किसी चीज़ से नहीं। और प्रति दिन बहुत से कार्य हम मृत्यु से बचने के ही लिए करते हैं। साधारणतया जिसे भय कहते हैं वह शत्रु भय है। यदि कोई शत्रु हमारे निकट हो तो हम भय संस्कार की बदौलत उसे तुरंत प्रत्यक्ष कर लेते हैं, और प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त करते ही किसी न किसी क्रिया में प्रवृत्त हो जाते हैं। या तो हम अपने आप को छिपाते हैं कि शत्रु से बच जाँय, या भाग कर अपना बचाव करते हैं।

मनुष्य के प्राकृतिक संस्कार जन्म के थोड़ी देर बाद हो बदलने शुरू हो जाते हैं। इस कारण हमारी प्रवृत्तियां बहुत कम प्राकृत रूप की होती हैं। प्रायः मानुषी प्रवृत्तियां विकृत रूप में ही प्रकट होती हैं। [illegible] रजोगुणी प्रवृत्तियों का प्राकृतिक रूप देखना हो तो हमें पशुओं के जीवन की ओर ध्यान देना पड़ता है। जंगल में घोड़ा दूर से सूँघ कर सिंह का प्रत्यक्ष ज्ञान प्रा[illegible] कर लेता है, और तुरंत दूसरी दिशा में दौड़ने [illegible]ता है। मनुष्य जब [illegible] शेर की गर्जना न सुन ले, या उसे [illegible] [illegible]च ले, तब तक [illegible] का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं प्राप्त करता, [illegible]

जन्म से ही होता है। दो वर्ष का बालक ही खिलौने इकट्ठे करने शुरू कर देता है। ज़रा बड़ा होता है तो गोलियां, टिकट, पैसे आदि जमा करने लगता है। यदि किसी बालक को किसी ऐसे स्थान में ले जाँय जहां फूल, बटियां या शंख-सीपियां बहुत हों तो उस बालक में अवश्य यह प्रवृत्ति होती है कि वह इन छोटी वस्तुओं को संचित करे, और उन्हें अपना धन समझ कर अपने घर ले जाय। संपत्ति उपार्जित करना प्राकृतिक प्रवृत्ति है। बड़े हो कर कोई केवल धन संचित करते हैं, और कोई यश, पुण्य, सुकृत आदि।

आत्म-गौरव और आत्म-लाघव

हमारे जीवन के दो महत्वपूर्ण संस्कार आत्मगौरव और आत्म-लाघव हैं। जब हम यह प्रतीत करते हैं कि हमारे सामने जो मनुष्य या वस्तु है उस से हम श्रेष्ठ हैं, या उस के ऊपर हमारा अधिकार है तो आत्मगौरव संस्कार प्रवृत्त हो उठता है। हमारी बात-बात से यह ज़ाहिर होता है कि हम बड़े हैं, माननीय हैं। यदि किसी छोटे बच्चे से कह दो कि तुम हम से बड़े हो गए, या हम से श्रेष्ठ हो गए, तो बालक फूल जाता है। बड़प्पन उस के चेहरे से टपकने लगता है। वह शासन करने लगता है, और ऐसे कार्य करने की चेष्टा करता है जो बड़ों को करने चाहिएं। इस के प्रतिकूल यदि कोई बालक यह देखता है कि वह छोटा है, निर्बल है, अयोग्य है तो उस में आत्मलाघव संस्कार जागृत हो जाता है। वह सकुचाता है, अपना मुँह छुपाता है, और जो कार्य वह भली-भाँति कर सकता है, वह भी उस समय नहीं कर पाता।

ज्यों-ज्यों हम बड़े होते जाते हैं आत्म-गुरुत्व और आत्म-लघुत्व संस्कारों के विविध विकार हम में उत्पन्न होते जाते हैं। इन से ही हमार चरित्र बनता है। चरित्र-संगठन की बाबत हम आगे चल कर विस्तार से लिखेंगे।

हमारा एक बड़ा उपयोगी राजस संस्कार काम है। हमारे बहुत से कार्य काम-संस्कार से प्रेरित होते हैं। पुरुषों में काम उस समय जागृत होता है जब कि वे स्वस्थ होते हैं और किसी ऐसी स्वस्थ स्त्री को देखते हैं जिस से संयोग संभव हो। स्त्री में काम-भाव ऐसे किसी पुरुष को देखने से उत्पन्न होता है। काम-भाव बहुत से निंदनीय रूपों में परिणत हो जाता है, मगर इस के प्रशंसनीय विकार भी होते हैं। प्रेम, स्वार्थ-त्याग, देशभक्ति आदि काम-संस्कार के ही विविध विकार हैं। काम-संस्कार का अभिप्राय वास्तव में संतानोत्पत्ति है। यदि काम-भाव न हो तो वंश-वृद्धि न हो।

काम

हम एक और राजस संस्कार का ज़िक्र करेंगे। वह स्नेह है। यह संस्कार तब प्रवृत्त होता है जब हम किसी नन्हे-निर्बल जीव को अनाथ पाते हैं। स्नेह-संस्कार से ही प्रेरित होकर माता अपने बच्चे का हार्दिक पालन पोषण करती है, आप कष्ट उठाती है, बालक को सुख पहुँचाती है। स्नेह भाव पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों में अधिक होता है। इस के भी विविध विकार सयाने मनुष्यों में प्रकट हो जाते हैं। वे हमारे जीवन को पुण्य-मय बनाते हैं। शायद शास्त्रों में स्नेह को ही मोह कहा गया है।

स्नेह

जिन राजस संस्कारों का हम ने अब तक उल्लेख किया है वे सब विशेष-रूपी हैं। ऐसे प्रत्येक संस्कार का कोई न कोई विशेष विषय होता है और किसी न किसी विशेष क्रिया से उस का संबंध होता है। उदाहरणार्थ, भय-संस्कार तभी प्रवृत्त होता है जब कोई भयप्रद वस्तु सामने हो। भय-क्रिया भी विशेष-रूपी होती है। हम भयप्रद वस्तु से बचने के लिए कुछ करते हैं। अब हम कुछ ऐसे संस्कारों का विवरण करेंगे जो सामान्य-रूप हैं—जिन का कोई विशेष विषय नहीं होता, और जिन की न कोई विशेष क्रिया होती है। यथावसर यह

सामान्यरूप संस्कार

संस्कार विविध विषयों से प्रवृत्त हो जाते हैं, और विविध क्रियाओं में परिणत होते हैं। ऐसे तीन मुख्य संस्कार सब मनुष्यों में होते हैं—संकेत-ग्रहण, सहानुभूति और अनुकरण।

संकेत-ग्रहण

संकेत-ग्रहण एक सामाजिक संस्कार है। इस संस्कार की बदौलत हमें वह ज्ञान आसानी से प्राप्त हो सकता है जो औरों ने उपार्जित किया हो। बहुत दफ़ा और लोग जो कुछ कहते या लिखते हैं उस से हमें ख़ुद ब-ख़ुद किसी नई बात के मालूम करने का रास्ता मिल जाता है। छोटे बालकों को बिना स्पष्ट तौर पर उन्हें बताए भी, बहुत सी बातों का पता हो जाता है। किसी गुप्त तरीक़ों से हमारा ज्ञान हमारे बच्चों में चला जाता है। हमें पता भी नहीं चलता कि किस समय किस ने उन्हें वे बातें बताई होंगी। और जब हम उन को कोई-कोई ज्ञान प्रकट करते देखते हैं तो हमें आश्चर्य होता है। वास्तव में सब बच्चों में यह प्राकृतिक योग्यता होती है कि वे संकेत-मात्र से बड़ों के प्राप्त किए ज्ञान को आसानी से ग्रहण कर लेते हैं। सयाने मनुष्य भी माननीय पुरुषों की बातों को निःसंशय मान लेते हैं। माता-पिता यदि बालकों को कोई असंभव बात भी बता दें तो बालक उसे सत्य समझ लेते हैं। इस प्राकृतिक संस्कार का नाम संकेत-ग्रहण है।

सहानुभूति

जैसे कि औरों के ज्ञान हम संकेत-ग्रहण की बदौलत किसी तरह प्राप्त कर लेते हैं, वैसे ही दूसरों के दुख-सुख भी हमें प्रभावित कर देते हैं। यदि हम किसी मित्र को कष्ट में पाते हैं तो हमें भी दुख होता है। यदि किसी मित्र को सुखी पाते हैं तो हमें भी सुख होता है। दूसरों के सुख-दुख के कारण जो हमें सुख-दुख होता है वह भी एक सामान्य प्राकृतिक संस्कार के कारण होता है। इस संस्कार को सहानुभूति कहते हैं। यह भी बड़ा उपयोगी संस्कार है। छोटे-छोटे बच्चों तक में

इस के परिणाम देख पड़ते हैं। यदि तुम सुखी होते हो तो तुम्हारे बालक भी सुखी नज़र आते हैं। यदि तुम्हें कोई दुःख होता है तो उस का असर तुम्हारे बालकों पर भी पड़ता है।

अनुकरण

तीसरा सामान्य सामाजिक संस्कार अनुकरण है। प्रत्येक मनुष्य में यह प्रवृत्ति होती है कि वह औरों को जो कुछ करते देखता है वही स्वयं करता है। विशेषतया बालकों में अनुकरण प्रधान होता है। वे जो कुछ अपने बड़ों को करते देखते हैं वही करने की कोशिश करते हैं, चाहे उन में वह कार्य करने की योग्यता हो या न हो। आपने छोटे बच्चों को अवश्य कोई न कोई ऐसा काम करने की चेष्टा करते देखा होगा जो उन के माता-पिता करते हैं।

प्रौढ़ मनुष्यों से ज़्यादा, बालक बालकों का अनुकरण करते हैं। खेल-खेल में अनुकरण द्वारा बालक अनेक बातें सीख लेते हैं। अनुकरण भी बड़ा उपयोगी संस्कार है। यदि मनुष्यों में अनुकरण संस्कार न होता तो बालकपन में जो हज़ारों बातें हम सीखते हैं वे न सीख पाते, और बड़े होकर समाज-प्रथाओं का पालन आसानी से न कर सकते।

अध्याय १०

भोग और उद्वेग

भोग

हम ने विविध जीववृत्तियों का ज़िक्र किया है। परंतु हम ने अभी तक यह नहीं देखा कि प्रत्येक जीववृत्ति में दुख या सुख का भी कुछ न कुछ अंश मिला रहता है। जहां कहीं कोई जीववृत्ति होती है सुख या दुख भी अवश्य होता है। और योग-मत के अनुसार तो चित्तवृत्तियों का आरंभ ही सुख-दुख से होता है। सुख-दुख चित्तवृत्तियों के साथ लगे रहते हैं। पर ये स्वयं चित्तवृत्तियां नहीं हैं। सुख-दुख न ज्ञान हैं, न क्रिया। परंतु सब ज्ञान और सब क्रियाएं इन के रंग से रँगी रहती हैं। नैयायिकों ने भी यह मालूम कर लिया था कि सुख-दुख ज्ञान नहीं हैं। सुख या दुख तभी हो सकता है जब कि कोई ज्ञान प्राप्त हो। कोई ज्ञान सुखमय होता है, कोई दुखमय। पर बिना ज्ञान के केवल सुख या केवल दुख कभी नहीं होता। तात्पर्य यह कि जीवों को सुख-दुख प्राप्त नहीं होते, सुखप्रद और दुखप्रद ज्ञान अथवा कार्य होते हैं। जिस जीववृत्ति में सुख या दुख प्रधान होते हैं वह भोग कहलाती है। हम भोग भोगते हैं सिर्फ़ सुख या सिर्फ़ दुःख कभी नहीं पाते।

सुख-दुख और ज्ञान

जीववृत्ति-ज्ञान के दृष्टिकोण से ज्ञान और सुख-दुख में बहुत भेद है। शंकराचार्य का मत है कि सुख-दुख जीव-संबंधी होते हैं। हम हमेशा यह कहते हैं कि हम सुखी हैं या हम दुखी हैं। मगर जब किसी वस्तु का ज्ञान होता है तो हम कहते हैं कि अमुक वस्तु ऐसी है, अमुक वस्तु वैसी है। यद्यपि वस्तु-ज्ञान भी हमें ही होता है, परंतु वस्तु

के साथ हम "हम" शब्द का प्रयोग नहीं करते। दुख-सुख के साथ हम हमेशा "हम" शब्द का प्रयोग करते हैं। दुख-सुख स्वयं कोई विषय नहीं हैं। वे केवल विषयी-गत हैं।

नैयायिकों को यह पता चल गया था कि एक ही वस्तु से किसी को सुख हो सकता है, किसी को दुख। जिस मनुष्य को सर्दी लग रही होती है उसे धूप में बैठने से सुख मिलता है। परंतु जिसे गरमी लग रही होती है उसे धूप में जाकर दुख प्राप्त होता है। सुख-दुख का अनुभव हमें ज्ञानेंद्रिय द्वारा नहीं होता, क्योंकि यह ज्ञान-विषय नहीं, केवल विषयी-गत अनुभव हैं।

सुख-दुख का नियम

सुख-दुख का हमारे संस्कारों से गाढ़ संबंध है। सुख दुख का सीधा नियम यह है कि यदि हमारी परिस्थिति प्रवृत्त संस्कार के अनुकूल हो तो हमें सुख होता है और यदि परिस्थिति किसी प्रवृत्त संस्कार के प्रतिकूल हो तो वह दुखप्रद होती है। इसी कारण दृढ़ संस्कारों के अनुकूल या प्रतिकूल वस्तुओं का हमें तत्काल ज्ञान हो जाता है। संक्षेप में, दुख-सुख का नियम यह है कि जब कोई संस्कार तृप्त होता है तो जीव को सुख होता है, और जब किसी संस्कार का विरोध होता है तो दुख। संस्कारों के प्रवृत्त होने से ही जीवों में कार्य करने की प्रेरणा होती है। इसी वास्ते कई दार्शनिकों का यह सिद्धांत है कि दुख-सुख से ही कार्य-प्रवृत्ति होती है। चाहे यह कहो कि संस्कार-प्रवृत्ति से प्रेरणा होती है, और चाहे यह कि सुख-आकांक्षा से, असल में बात एक ही है।

राजस संस्कार प्रवर्तन

संस्कारों में सब से प्रभावशाली राजस संस्कार हैं। इस लिए स्पष्ट है कि राजस संस्कार प्रवृत्त होने से अवश्य भोगानुभव होता है। परंतु राजस संस्कार जब प्रवृत्त होते हैं तो जीव में और भी बहुत कुछ होता है। ये प्राणियों के जीवन के लिए इतने महत्वपूर्ण हैं कि जिन वस्तुओं से

इन की तृप्ति या विरोध होने की संभावना होती है, उन को प्राणी अवश्य प्रत्यक्ष कर लेता है, और उन को प्रत्यक्ष करते ही उन के प्रति कुछ न कुछ क्रिया आरंभ कर देता है।

राजस संस्कार उत्तेजित होते ही हमारे शरीर में वाह्य और आंतरिक प्रवर्तन होने लगते हैं। कभी-कभी हम काँपने लगते हैं, हमें पसीना आ जाता है, हमारा दिल धड़कने लगता है, हमारी साँस जल्दी-जल्दी आने लगती है। काँपना, दिल धड़कना, हाँपना, पेशी क्रियाएं हैं। स्वेद निकालना स्वेदग्रंथि-क्रिया है। इस प्रवृत्ति का असर हमारी और भी ग्रंथियों पर पड़ता है, विशेषतः प्रणाली-रहित ग्रंथियों पर। कोई-कोई ग्रंथि अधिक रस बनाने लगती हैं और किसी-किसी का कार्य बंद हो जाता है। क्रुद्ध प्राणी की ऐड्रीनल ग्रंथियां अधिक रस रक्त में मिलाती रहती हैं, और उस के आमाशय की ग्रंथियां पाचक रस बनाना बंद कर देती हैं।

आंतरिक प्रवर्तन

आधुनिक जीववृत्ति-विज्ञानवेत्ताओं ने इस विषय पर विचित्र परीक्षण किए हैं। एक वैज्ञानिक ने एक बिल्ली को काले रंग का बहुत सा भोजन खिलाकर एक मेज़ पर बिठा दिया। फिर वह एक बड़े कुत्ते को बिल्ली के सम्मुख लाया और बिल्ली के आमाशय की एक्सरे द्वारा फ़ोटो लेता गया। फ़ोटो से उसे पता चला कि कुत्ते के प्रकट होने से पहले बिल्ली अपना भोजन भली प्रकार पचा रही थी। कुत्ते के आते ही बिल्ली ने घुर्राना शुरू किया, और उस के क्रुद्ध होते ही आमाशय ने पाचन-क्रिया बंद कर दी, जब कुत्ता चला गया तो शनैः-शनैः बिल्ली फिर शांत हो गई और पाचन-क्रिया फिर आरंभ हो गई।

राजस संस्कार प्रवृत्त होने से जो वृत्तियां जीव में प्रकट होती हैं उन को उद्वेग कहते हैं। और चूँकि राजस संस्कार-प्रवृत्ति से प्राणी क्षुब्ध हो जाता है, इन वृत्तियों को अंतःक्षोभ भी कहते हैं। अंतःक्षोभ इस तरह पर उठते होते हैं कि प्रथम किसी परिस्थिति से कोई राजस संस्कार प्रवृत्त होता है। राजस संस्कार के प्रवृत्त होते ही शारीरिक क्रियाएं उत्पन्न होती हैं और बाह्य और आंतरिक परिवर्तन शुरू होते हैं। पेशियों और ग्रंथियों की क्रियाओं से प्राणी को तरह-तरह की आंतरिक गुणोपलब्धियां होती हैं। राजस वृत्तियों में सुख-दुख पहले ही प्रधान होते हैं। आंतरिक गुणोपलब्धियों से सुख-दुख और भी तीव्र हो जाते हैं, और मनोद्वेग बढ़ जाता है।

उद्वेग

उद्वैगिक क्रियाएं परिस्थिति प्रत्यक्ष होते ही उत्पन्न हो जाती हैं। उन में प्रवृत्त होने से पहले मनुष्य कुछ सोचता-विचारता नहीं, ऐच्छिक अवधान द्वारा परिस्थिति का निरीक्षण नहीं करता। इसी कारण उद्विग्न क्रियाएं साहसिक होती हैं, विचारात्मक नहीं। उद्वैगिक क्रियाओं का नियंत्रण करने की बजाय प्राणी स्वयं उद्वेगों के वश में हो जाता है। उद्वेग उसे बलात् अपने मार्ग पर ले जाते हैं, और शांत होने पर मनुष्य पश्चात्ताप करता है।

उद्वेग और विचार

वास्तव में उद्वेग पशु-वृत्तियां हैं, नीचे दरजे के कार्य हैं। जो मनुष्य उद्वेगों के बंधनों में बँधा रहता है और सोचता-विचारता नहीं वह जानवरों ही के समान है। उस की अधोगति प्रशंसनीय नहीं। राजस संस्कार संयम ही मनुष्य का धर्म है, यही उन्नति का मार्ग है।

जानवरों में और उन्मत्त मनुष्यों में राजस संस्कार अपने प्राकृतिक रूप में प्रवृत्त होते हैं। जब कोई राजस संस्कार अपने प्राकृतिक रूप में जागृत होता है, तो परिणाम उद्वेग होता है। उद्वैगिक जीववृत्तियों

लक्षण ये हैं कि वे अनैच्छिक अवधान की अवस्था में प्रकट होती हैं, साहसिक होती हैं, विवश होती हैं। इस के अतिरिक्त, उन में सुख-दुख प्रधान होते हैं और आंतरिक शारीरिक परिवर्तन अवश्य होते हैं। आंतरिक परिवर्तनों के कारण विविध गुणोपलब्धियां होती हैं जिन से परिस्थिति-अनुभव विषम-रूप धारण कर लेता है और उद्वेग अनुभव को विशेषता प्रदान करता है। बिना आंतरिक परिवर्तनों और अनिश्चित गुणोपलब्धियों के उद्वेग की कोई सत्ता नहीं। यह कहना तो अशुद्ध है कि इन्हीं परिवर्तनों और गुणोपलब्धियों का दूसरा नाम उद्वेग है, पर यह ठीक है कि इन के स्तंभन से उद्वेग रुक जाता है, और इन के किसी तरह पर उत्पन्न हो जाने से कभी-कभी बिना कारण ही उद्विग्न अवस्था प्रकट हो जाती है।

अध्याय ११

वृत्ति-संबंध

यह हम पहले देख चुके हैं कि संस्कार दो प्रकार के होते हैं—प्राकृतिक और अर्जित। अर्जित संस्कारों का एक विशेष रूप वृत्ति-संबंध है। किसी वृत्ति के उपस्थित होने पर उस की संबंधी वृत्तियों के उपस्थित होने की संभावना होती है। यदि किसी कारण से हमें कालिज का ध्यान आ जाय तो छात्र गणों के ध्यान आने की संभावना होती है। यदि रेलगाड़ी का ध्यान आ जाय तो प्रायः इंजन का ध्यान आने की प्रवृत्ति होती है, और यदि विद्युत् का ध्यान आ जाय तो प्रायः बादल गरजने का ध्यान आ जाता है।

संबंध-संस्कार

इन सब प्रवृत्तियों का कारण यही होता है कि कोई-कोई जीववृत्तियां आपस में संबद्ध होती हैं, और जब संबद्ध वृत्तियों में से एक प्रकट होती है तो उस की संबंधी वृत्तियों के प्रकट होने की भी प्रवृत्ति हो उठती है। कालिज के विचार के पश्चात् छात्रगणों का विचार इसी वास्ते होता है कि ये दोनों विचार एक दूसरे से संबद्ध हैं। इसी प्रकार रेल और इंजन विद्युत् और बादल की गर्जना, अपरिचित मनुष्य और उस के समान मुख वाला मित्र, एक दूसरे से संबद्ध हैं। जब कभी इन चित्तवृत्ति-युगलों में से एक वृत्ति-उत्पन्न होती है तो दूसरी वृत्ति के उत्पन्न होने की भी संभावना होती है।

वृत्ति-संबंध का नियम भी बड़ा सीधा है—जो वृत्तियां मिल कर एक पूर्ण वृत्ति बन जाती हैं, वे सब आपस में संबद्ध हो जाती हैं, और उन में से जब कोई एक उद्भूत होती है तो समस्त अवयवी के उद्भूत होने की प्रवृत्ति हो उठती है। इस कारण हमारा ध्यान उद्भूत वयव से दूसरे अवयवों की ओर चला जाता है। जब हम कालिज

वृत्ति-संबंध का नियम

के भवन का विचार करते हैं तो हम में समस्त कालिज के विचार करने की प्रवृत्ति हो जाती है और, क्योंकि छात्र कालिज में होते हैं, हमें छात्रों का ध्यान आ जाता है।

प्रायः वृत्ति-संबंध जुड़ने के दो नियम बताए जाते हैं—अव्यवधानता और समानता। अव्यवधानता दो प्रकार की होती है—कालिक और दैशिक। जो विषय एक दूसरे के पीछे प्रकट होते हैं उन के प्रत्यय आपस में संसक्त हो जाते हैं। विद्युत् के चमकने के पीछे बादल गर्जता है। इस कारण विद्युत् और घन-गर्जन के प्रत्यय संसक्त हो जाते हैं। इंजन रेलगाड़ी के आगे होता है, इस कारण इंजन और गाड़ी के प्रत्ययों में संबंध जुड़ जाता है। परिणाम यह होता है कि जब हम विद्युत् का विचार करते हैं तो हमें बादल गरजने का ध्यान आ जाता है और जब हम इंजन को देखते हैं, या इंजन का ख़याल करते हैं, तो हमें गाड़ी का ख़याल आ जाता है। विद्युत् और घन-गर्जन में कालिक अव्यवधानता है। इंजन और गाड़ी में दैशिक अव्यवधानता है। इसी कारण ये प्रत्यय संबद्ध प्रत्यय हैं।

अव्यवधानता

समानता भी कई प्रकार की होती है—रूप-समानता, नाम-समानता, और अर्थ-समानता। यदि एक मनुष्य को देख कर दूसरे ऐसे मनुष्य की याद आए जिस का चेहरा पहले मनुष्य का ऐसा है, तो इस का कारण उन मनुष्यों की रूप-समानता है। विषय समान-रूप होने से प्रत्यय एक-दूसरे से संबद्ध हो गए हैं। "मोहन" और "सोहन" में नाम-समानता है। इस वास्ते इन के विचारों में संसक्ति हो जाती है। जब हम मोहन का ध्यान करते हैं तो सोहन का ध्यान आ जाता है। पुस्तक और ग्रंथ में अर्थ-समानता है। इस कारण इन के विचार संबद्ध हो जाते हैं, और पुस्तक का ध्यान आने से ग्रंथ का ध्यान आ जाता है। अर्थ-समानता के विविध

समानता

रूप हैं। श्रेणी और छात्र में अर्थ-समानता है। मनुष्य और पशु में अर्थ-समानता है, इत्यादि।

यदि विचार करके देखा जाय तो दोनों प्रकार की अव्यवधानता में और तीनों प्रकार की समानता में एकत्व अंतर्गत है। बिजली का चमकना और बादल का गरजना दोनों मिल कर एक पूर्ण परिस्थिति बनाते हैं।

एकत्व

इन का एकधा प्रत्यक्ष होता है। ये दोनों एक ही अवयवी के दो अवयव हैं, एक हो गति के दो भाग हैं। इसी कारण यह एक-दूसरे से संबद्ध हैं, और एक का ध्यान आने से दूसरे का ध्यान आता है। इसी प्रकार इंजन और गाड़ी भी एक ही वस्तु के दो भाग हैं। कालिज छात्रों के लिए होता है, छात्र कालिज में पढ़ते हैं। छात्र कालिज और पढ़ाई सब मिल कर एक विषय बनता है। इस विषय के छात्र, कालिज, पढ़ाई, आदि अवयव हैं। इसी कारण ये आपस में संबद्ध हैं।

संबंध जीव में संस्कार-रूप में रहता है। जब कभी कोई पूर्ण जीववृत्ति प्रकट होती है, तो वह ऐसे संस्कार छोड़ जाती है कि भविष्य में यदि उस वृत्ति का कोई एक अंश उपस्थित हो जाय, तो संपूर्ण वृत्ति के उपस्थित होने की संभावना रहती है। जब वृत्ति लोप हो जाती है तब भी यह संबंध क़ायम रहते हैं, क्योंकि संबंध संस्कार हैं और वृत्तियों की अपेक्षा स्थायी हैं। वे वृत्तियों की भाँति थोड़े समय रह कर लोप होने वाले नहीं। वृत्तियां उठ कर ग़ायब हो जाती हैं। पर संस्कार जमे रहते हैं। जब हमारी कोई वृत्ति भी उद्भूत नहीं होती तब भी हमारे संस्कार हम में रहते हैं। जब हम सोए होते हैं तब भी संस्कार हम में होते हैं। और हिंदू शास्त्रों के अनुसार तो हम एक जन्म के संस्कार दूसरे जन्म में भी ले जाते हैं।

संस्कार-स्थापित्व

वृत्ति-जीवन बड़ा पेचीदा है। इस की विषमता संबंधों की विषमता से ज़ाहिर होती है। एक जीववृत्ति किसी एक और जीव-वृत्ति से ही संबद्ध नहीं होती। बल्कि, एक जीव-वृत्ति का बहुतेरी जीववृत्तियों से संबंध होता है। कालिज का विचार उदय होने से छात्रों का ध्यान आ सकता है, अध्यापकों का ध्यान आ सकता है, पढ़ाई का ध्यान आ सकता है, पुस्तकों का ध्यान आ सकता है, खेल का ध्यान आ सकता है, इत्यादि। परंतु जब कभी कालिज का ध्यान आता है तो उस के पश्चात् एक ही ध्यान आता है। सारे संबद्ध विचार एक साथ उपस्थित नहीं हो जाते। जो संबद्ध वृत्ति-संबंध के कारण उपस्थित होती है वह किसी न किसी नियमानुसार उपस्थित होती है। अनिश्चित तौर पर कोई वृत्ति किसी समय उपस्थित हो जाय, यह बात नहीं। बहुत से संबद्ध संस्कारों में से किसी क्षण वे ही प्रवृत्त होते हैं जो औरों की अपेक्षा दृढ़ हों और जीव की वर्तमान अवस्था के अनुकूल हों।

वृत्ति-संबंध की विषमता

संबद्ध वृत्तियों के उद्भाव का यह नियम कि जो संस्कार जीव को वर्तमान अवस्था के अनुकूल होते हैं वे ही प्रवृत्त होते हैं, दूसरे नहीं, बड़ा महत्वपूर्ण है। जब हम अंग्रेज़ी बोल रहे होते हैं तो अंग्रेज़ी के ही शब्द हमें याद आते हैं, परंतु जब हम हिंदी लिख रहे होते हैं तो हिंदी के शब्द हमें याद आते हैं। हालाँकि जो भाव हम प्रकट करना चाहते हैं उस का संबंध अंग्रेज़ी के शब्दों से भी है और हिंदी के शब्दों से भी।

वर्तमान अवस्था का महत्व

जब हम जीववृत्ति-शास्त्र की विवेचना कर रहे होते हैं, तो 'संबंधी' शब्द से हम प्रत्यय आदि समझते हैं, नातेदार नहीं समझते। अंग्रेज़ी बोलते समय अंग्रेज़ी भाषा संबंधी संस्कार ही जागृत होते हैं, और भाषाओं संबंधी नहीं। हिंदी लिखते समय हिंदी भाषा संबंधी संस्कार

ही प्रवृत्त होते हैं। और जीववृत्ति-विज्ञान पर विवेचना करते समय जीववृत्ति-विज्ञान-संबंधी संस्कार ही प्रवृत्त होते हैं।

कभी-कभी संस्कार-जागृति ऐसे गुप्त ढंग से होती है कि हम विस्मित हो जाते हैं। हमारे कोई संस्कार थोड़े-बहुत प्रवृत्त हो जाते हैं परंतु हमें पता नहीं चलता कि अमुक संस्कार प्रवृत्त हुए हैं, क्योंकि वे इतनी प्रबलता से उत्तेजित नहीं हुए होते कि हमारे सामने कोई प्रत्यय उपस्थित कर दें। विचित्र बात यह है कि यद्यपि ऐसी अवस्था में संबद्ध प्रत्ययों का उद्भाव नहीं होता, तो भी कभी-कभी उन प्रत्ययों के संबंधी प्रत्यय उद्भूत हो जाते हैं, और हम सोचते ही रहते हैं कि अमुक विचार क्यों अकस्मात् हम में उपस्थित हो गया। उदाहरणार्थ, अभी बैठे-बैठे हमें मंसूरी की एक सड़क का ध्यान आ गया, यद्यपि हम इस समय मंसूरी का विचार नहीं कर रहे थे। न मंसूरी की कोई बात-चीत हुई थी। बहुत सोचने के बाद ध्यान आया कि थोड़ी देर पूर्व हम कश्मीर का ज़िक्र कर रहे थे। कश्मीर की किसी ख़ास सड़क का ध्यान उस समय नहीं आया था। पर मंसूरी की जिस सड़क का ध्यान इस समय हमें आया वह कश्मीर की एक सड़क के समान है। निस्संदेह कश्मीर की बात-चीत से कश्मीर की इस सड़क संबंधी संस्कार जागृत हो उठे थे, पर हमें इन संस्कारों की जागृति का पता नहीं लगा था, क्योंकि सड़क स्पष्ट रूप से हमारे ध्यान में नहीं आई थी। लेकिन कश्मीर-संबंधी संस्कार उत्तेजित होने से हमारी वर्तमान अवस्था नियंत्रित हो गई थी और इसी कारण किसी न किसी वर्तमान वृत्ति ने हमें कश्मीर की सड़क जैसी मंसूरी की सड़क की याद दिला दी।

अज्ञात संस्कार-जागृति

जीव की वर्तमान अवस्था के अलावा, बहुत से संस्कारों में से कौन संस्कार किसी समय जागृत होंगे यह संस्कारों की दृढ़ता पर भी निर्भर है। संस्कारों में से दृढ़तर जागृत हो जाते हैं, निर्बल शांत रहते हैं। संस्कार-दृढ़ता के भी नियम हैं।

पुनरावृत्ति

अव्वल तो संबंध वृत्तियों का सहचार जितनी ज़्यादा बार होगा उतना ही संबंध-संस्कार दृढ़ होता जायगा । यदि बार-बार दो विषय साथ-साथ ध्यान में आवेंगे, तो उन का परस्पर-संबंध अवश्य दृढ़ हो जायगा। यदि हम प्रति दिन एक मनुष्य को एक ही मोटर में जाते देखें तो निस्संदेह वह मनुष्य और वह मोटर संबद्ध हो जाएंगे । और जब कभी हम उस मनुष्य को देखेंगे या हमें उस का ध्यान आयेगा तो हमें संभवतः उस की मोटर का भी ध्यान आएगा। इस नियम को पुनरावृत्ति नियम कहते हैं।

नवीनता

संस्कार-दृढ़ता का दूसरा नियम नवीनता है । जीववृत्ति-विज्ञान का एक मौलिक नियम यह है कि यदि किसी संस्कार को उत्तेजित होने का अवसर न मिले तो ज्यों-ज्यों समय बीतता जाता है त्यों-त्यों वह संस्कार निर्बल होता जाता है। शायद हमारा कोई संस्कार कभी पूर्णतया लोप नहीं होता, परंतु इस में संदेह नहीं कि बहुत से संस्कार बन कर हुए न हुए बराबर हो जाते हैं। न उन को जागृति का अवसर मिलता है और न वे इतने दृढ़ हो पाते हैं कि कभी कोई वृत्ति पैदा कर सकें। कुछ समय बीतने पर वे इतने निर्बल हो जाते हैं कि उन का मानो कुछ असर जीव पर रहता ही नहीं।

परंतु संस्कार के बनते ही उस का यह हाल नहीं होता। नवीन संस्कारों में स्वभाव से ही कुछ न कुछ दृढ़ता होती है। यदि हम ने थोड़ी देर पहले ही एक मनुष्य को लड्डू खाते देखा हो तो लड्डू का ध्यान आते ही उस मनुष्य का ध्यान आ जायेगा । पर यदि मनुष्य को लड्डू खाते देखने के बाद बहुत समय बीत जाय तो हम इस घटना को भूल जाएंगे और लड्डू का ध्यान आने पर भी शायद उस मनुष्य का ध्यान नहीं आएगा।

राजस संस्कारों का असर

यों तो सभी जीववृत्तियों का राजस संस्कारों से कुछ न कुछ संबंध होता है, परंतु यदि कोई वृत्ति किसी राजस संस्कार को प्रबलतया उत्तेजित करे तो उस वृत्ति के कारण जो संस्कार बनते हैं वे भी स्वभाव से ही दृढ़ होते हैं। यदि हम किसी अद्भुत घटना का अनुभव करते हैं तो प्रायः वर्षों बाद तक वह घटना हमें याद रहती है। वर्ष बीतने पर भी यह संस्कार प्रबल ही रहता है, और यद्यपि घटना की पुनरावृत्ति के कारण इस संस्कार में दृढ़ता नहीं आती, तो भी यह संस्कार निर्बल नहीं हो पाता। कारण यह कि प्रथम घटना ने कुतूहल को प्रबलतया उत्तेजित किया था। कुतूहल एक राजस संस्कार है। इस कारण विचित्र घटना-रचित संस्कार इतने दृढ़ हैं कि बिना पुनरावृत्ति के, अधिक समय बीत जाने पर भी, निर्बल नहीं हो पाते।

अध्याय १२

स्मृति

स्मरण-संस्कार

हम ने अभी तक कई बार 'याद आ जाता है', 'याद आ जाती है', इन शब्दों का प्रयोग किया है. पर इस बात का कभी ज़िक्र नहीं किया कि स्मृति क्या है और स्मृति और अन्य जीव वृत्तियों में क्या भेद है। यह स्पष्ट है कि जब हमें कोई बात याद आती है, तो वह हमारे संस्कारों की बदौलत याद आती है। कोई न कोई संस्कार हम में ऐसे मौजूद होते हैं, जिन के कारण हमें कोई बात याद आ जाती है। इस तरह स्मृति एक प्रकार के संस्कारों का नाम हुआ। वे संस्कार जिन के उत्तेजित होने से कोई भूत वृत्ति पुनरुज्जीवित हो जाय स्मृति कहलाते हैं। स्मरण-संस्कार प्राकृतिक नहीं होते। वे इसी जीवन में उत्पन्न हुए होते हैं। वे एक प्रकार के वृत्ति-संबंध ही होते हैं। इसी वजह से वृत्ति-संबंध के प्रसंग में हमें 'याद' शब्द बार-बार प्रयोग करना पड़ा था।

स्मरण-वृत्ति

स्मृति स्मरण-संस्कारों का भी नाम है और उन वृत्तियों का भी जो स्मरण-संस्कारों के प्रवृत्त होने से उदय होती हैं। जब हम कहते हैं कि हमें अपना पाठ याद है। तो हमारा आशय यह होता है कि पाठसंबंधी संस्कार हम में काफ़ी दृढ़ हैं। वे पूर्ण-रूप से बन चुके हैं, और अभी निर्बल नहीं हुए हैं—दृढ़ के दृढ़ मौजूद हैं। जो कुछ हम ने जन्म से अब तक सीखा है वह हमें इसी तरह याद है—यानी उस के प्रबल संस्कार हम में मौजूद हैं। ज्यों-ज्यों हम किसी बात को भूलते जाते हैं, तत्संबंधी संस्कार निर्बल

हो जाते हैं, और यदि किसी विषय संबंधी संस्कार बिल्कुल लोप हो जाँय, तो हम उस विषय को पूर्णतया भूल जाते हैं।

स्मरण का लक्षण

जब हम अपना पाठ सुना रहे होते हैं तो भी यही कहते हैं कि हमें पाठ का स्मरण हो रहा है, हमें पाठ याद आ रहा है। किसी पिछले अनुभव किए विषय का स्मरण हो आना भी स्मृति ही है। और इस तरह स्मृति एक प्रकार को जीववृत्ति है। स्मृति पुराने अनुभवों के पुनरुज्जीवन का नाम है। परंतु स्मृति और साधारण संबद्ध प्रत्यय उत्पत्ति में एक भेद है। प्रत्येक चेतना-वृत्ति के पुनरुद्भाव स्मृति नहीं कहलाते। यदि हम किसी विषय का विचार करते हों, तो हमेशा यह नहीं कहते कि हमें वह विषय याद आ रहा है। केवल यही कहते हैं कि हमें अमुक विषय का ध्यान आ रहा है।

स्मृति में साधारण प्रत्यय उत्पत्ति के अतिरिक्त, एक और लक्षण होता है। वह यह कि उद्भूत प्रत्यय किसी न किसी पिछले अनुभव की ओर संकेत करता है। जब कोई विषय स्मरण हो आता है तो आवश्यक होता है कि वह विषय हम पहले अनुभव कर चुके हों। केवल प्रत्यय उपस्थित होने से ऐसा भूत-कालिक संकेत नहीं होता। हम 'मित्र' का ख़याल कर सकते हैं, 'किताब' का ख़याल कर सकते हैं, 'घर' का खयाल कर सकते हैं, यह खयाल किसी पूर्वानुभव के सांकेतिक नहीं हैं। मतलब किसी विशेष मित्र, किसी ख़ास किताब, या किसी ख़ास घर से नहीं होता।

परंतु जब हम यह कहते हैं कि हमें मित्र के आने का स्मरण हो आया है, या कल हम ने अमुक पुस्तक देखी थी, या हम यह कहते हैं कि हम जिस तरह प्रातः काल घर में थे उस की हमें याद है, तो किसी न किसी पिछले अनुभव की ओर इशारा होता है। स्मृति में प्रत्यय या

कल्पना उपस्थित होने के अतिरिक्त, यह भी चेतना उपस्थित रहती है कि वर्तमान विषय का हमें पहले अनुभव हो चुका है। जब कभी हमें किसी संबद्ध विषय की चेतना होती है और उस के साथ यह भी चेतना होती है कि विषय पहले ही हमारा अनुभव किया हुआ है, तो ये दोनों चेतनाएं मिल कर स्मृति का रूप धारण कर लेती हैं। संबद्ध विषय के पुनरुद्भूत होने की अपेक्षा स्मृति-ज्ञान होना मिश्रित जीव-वृत्ति है, हालाँकि प्रायः हमें इस के मिश्रित जीववृत्ति होने का पता नहीं रहता।

प्रत्यभिज्ञा

स्मृति का एक विशेष रूप प्रत्यभिज्ञा है। जब हमें किसी विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है और उस के साथ यह भी चेतना रहती है कि यह अमुक विषय है, हमारा पहले अनुभव किया हुआ है, तो ऐसे प्रत्यक्ष ज्ञान को प्रत्यभिज्ञा कहते हैं। प्रत्यभिज्ञा का कारण भी हमारे अर्जित संस्कार ही होते हैं। पहले अनुभव से जो संस्कार बने हैं वे न्यूनाधिक वैसे के वैसे ही दूसरे अनुभव के समय प्रवृत्त हो जाते हैं, और हमें अनुभूत विषय प्रत्यभिज्ञ हो जाता है। कभी-कभी ऐसा भी होता है कि हम किसी वस्तु को प्रत्यक्ष करते हैं, पर उस को पहचानते नहीं। उस वस्तु के पहले प्रत्यक्ष से इतने दृढ़ संस्कार नहीं बने होते कि वे अपने पूर्ण-रूप में उत्तेजित हो जाँय और हमें वह अनुभव स्मरण हो आए। कभी-कभी हमें यह तो प्रतीत होता है कि वर्तमान विषय को हम ने पहले अनुभव किया है, उपस्थित मनुष्य को कभी पहले देखा है, किंतु यह याद नहीं आता कि कब अनुभव किया, कब देखा। कारण यही होता है कि विषय-संबंधी संस्कार काफ़ी प्रबल नहीं होते, और इस लिए पूर्णतया जागृत नहीं होते। क्योंकि कुछ न कुछ प्रवृत्ति हो उठती है, केवल उस का प्रभाव वर्तमान चेतना पर पड़ जाता है। पर कोई विशेष स्मृति उपस्थित नहीं होती, कोई प्रत्यभिज्ञा नहीं होती।

जीववृत्तियों की उत्पत्ति के नियम समझने के लिए संस्कार अंशतः भी उत्तेजित हो सकते हैं, और उन का अमुक परिणाम होता है, यह सभी समझना आवश्यक है। जब हमें कोई विषय याद आता है तो उस विषय संबंधी समस्त संस्कार पूर्णतया कभी उत्तेजित नहीं होते। यदि हम उस विषय की बाबत कुछ देर तक सोचे जाँय तो ये संस्कार एक-एक करके जागते जाते हैं और हमें उस विषय संबंधी सब बातें एक के पीछे एक याद आती जाती हैं। परंतु यदि हम उस विषय पर देर तक विचार न करें तो सारे संस्कार अपूर्णतया प्रवृत्त होते और शांत होते जाते हैं। हम उन को पूरी तरह उत्तेजित होने का अवसर नहीं देते, तत्काल दूसरे विषय को सन्मुख ले आते हैं।

अपूर्ण संस्कार-प्रवृत्ति

यह जीव की ऐसी अवस्था है कि लगभग हर समय उपस्थित रहती है। प्रतिक्षण हमारे संस्कार-समूह न्यूनाधिक जागृत होते, और शांत होते रहते हैं। जब कभी हमारा ध्यान एक विषय से दूसरे विषय की ओर जाता है, एक नया संस्कार-समूह अपूर्णतया प्रवृत्त हो जाता है। उन संस्कारों में से केवल एक संस्कार पूरी तौर पर जागृत होता है और, पहले इस के कि अन्य संस्कार भी इसी तरह पूर्णरूप से उत्तेजित हों, हमारा ध्यान किसी और विषय की ओर चला जाता है।

स्मृति के संबंध में एक विचित्र बात यह है कि यद्यपि हम समझते यह हैं कि पिछला अनुभव ज्यों का त्यों दुबारा उत्पन्न हो गया, वास्तव में गतानुभव कभी ज्यों का त्यों वापिस नहीं आता। कारण यह कि प्रत्येक अनुभव जीव की समस्त रचना का परिणाम होता है, उस के प्राकृतिक और अर्जित सब संस्कारों से प्रेरित होता है। जीव में नए संस्कार प्रतिक्षण बनते रहते हैं, और निस्संदेह जब हमें कोई पूर्वानुभव याद आता है, तो पूर्व अनुभव के पश्चात् भी बहुत से नए संस्कार बन

अनुभव-नवीनता

चुके होते हैं। उन सब संस्कारों का कुछ न कुछ प्रभाव पुनरनुभव पर अवश्य पड़ता है। तो फिर यह अनुभव सर्वथा पूर्वानुभव के ऐसा क्यों कर हो सकता है? पिछला अनुभव पिछला अनुभव था। वह उस समय के समस्त संस्कारों का परिणाम था। यह अनुभव एक और अनुभव है। यह अब तक जितने संस्कार बन चुके हैं, उन सब का परिणाम है। यह वह का वही अनुभव नहीं। इस को पुनरनुभव केवल इस वास्ते कहते हैं कि इस का विषय वही है जो कि पिछले अनुभव का था। अनुभव तो जुदा है परंतु विषय समान होने के कारण इस का भी वही नाम है जो कि पिछले अनुभव का था।

मान लीजिए कि हम से कोई कहता है कि मिश्रीचंद हवाई जहाजों की दौड़ में जीत गए। हमें इस समय मिश्रीचंद और उन के हवाई जहाज़ का ख़याल आता है। अब मान लीजिए कि दो-तीन दिन के बाद हम फिर मिश्रीचंद और उन के हवाई जहाज़ की बाबत सोचते हैं। साधारण विचार यह है कि मिश्रीचंद और उन के हवाई जहाज़ के वही प्रत्यय, जो कि हम ने दो तीन दिन हुए जब अनुभव किए थे, फिर प्रकट हो रहे हैं। पर जीववृत्ति-विज्ञान की दृष्टि से आज मिश्रीचंद और उन के हवाई जहाज़ के जो प्रत्यय हम अनुभव कर रहे हैं वे वह के वही अनुभव नहीं हैं जो कि दो-तीन दिन हुए जब उपस्थित थे। वे अनुभव हो चुके। जो जीव-वृत्ति एक बार समाप्त हो चुकती है वह दुबारा नहीं उठ सकती। जीववृत्तियां कोई स्थूल पदार्थ नहीं कि कहीं सुरक्षित रक्खी रहें और जब उन की ज़रूरत हो तब जैसी की तैसी ही निकाल ली जायँ।

विषय-समानता

जीववृत्ति जब समाप्त हो जाती है तो नष्ट हो जाती है। वह कहीं चली नहीं जाती कि मुड़ आए। हां, वह अपने संस्कार छोड़ जाती है, और उस जैसी दूसरी वृत्ति, जब कभी वे संस्कार प्रवृत्त होते हैं, उपस्थित हो जाती है, और उसी नाम से कहलाती है जिस नाम से कि पिछली

जीववृत्ति कहलाती थी। दो-तीन दिन पहले भी मिश्रीचंद के हवाई जहाज़ का ख़याल हुआ था और आज भी मिश्रीचंद के जहाज़ का ख़याल आया। दोनों अनुभव मिश्रीचंद के हवाई जहाज़ के ख़याल हैं। पर वे एक ही अनुभव नहीं, पृथक्-पृथक् अनुभव हैं। इन दोनों अनुभवों में निस्संदेह परस्पर भेद है, क्योंकि दो-तीन दिन हुए जो मिश्रीचंद के हवाई जहाज़ का ख़याल हमें आया था वह उस समय तक के सब संस्कारों परिणाम था। पिछले दो तीन दिनों में अवश्य बहुत से नए संस्कार बन कर हमारे पुराने संस्कार-समूह में मिल गए हैं। आज जो मिश्रीचंद के हवाई जहाज़ का ख़याल हमें आया है वह इन सब संस्कारों का परिणाम है, और अवश्य पिछले ख़याल से भिन्न है।

अध्याय १३

वैज्ञानिक चेतना

एक प्रत्यक्ष या एक प्रत्यक्षानुकरण के विषय एक से ज़्यादा नहीं हो सकते। हमें एक पुस्तक का, पुस्तकों की एक पंक्ति का, पुस्तक भरी एक अलमारी का, एक बड़े कमरे का, एक घर का. एक बाज़ार का प्रत्यक्ष या प्रत्यक्षानुकरण हो सकता है। पुस्तक-पंक्ति में बहुत सी पुस्तकें हैं। अलमारी में कई पुस्तक-पंक्तियां हैं। कमरे में कितनी ही अलमारियां हैं। फिर भी पुस्तक-पंक्ति, अलमारी और कमरे के प्रत्ययों के विषय एक-एक ही हैं। हम एक पुस्तक-पंक्ति देखते हैं, एक अलमारी का प्रत्यक्ष करते हैं, एक कमरे को ध्यान में लाते हैं।

सामान्य प्रत्यय

प्रत्यय का यही लक्षण है कि वह एक विषय सूचक होता है। परंतु मनुष्यों में सामान्य दृष्टि भी होती है। वे व्याप्ति ग्रहण कर सकते हैं— सामान्य रूप से किताबों, पंक्तियों, अलमारियों आदि का ख़याल कर सकते हैं। ऐसी जीववृत्तियों के विषय व्यक्ति-रूप नहीं होते। जब हम सामान्य-रूप से किताब का ध्यान करते हैं तो हमें किताब जाति का ज्ञान होता है, किसी विशेष किताब का नहीं। इसी तरह पंक्ति का सामान्य-रूप से विचार करने से पंक्ति जाति का ज्ञान होता है, किसी विशेष पंक्ति का नहीं। सामान्य प्रत्यय के साथ कोई गुण-कल्पना हो सकती है। परंतु गुण-कल्पना सामान्य प्रत्यय का मूलाधार नहीं। वह उस के लक्षणों को नहीं दिखाती।

किताब के सामान्य प्रत्यय उपस्थित होने के समय अपनी किसी किताब की प्रतिमा हमारे सामने आ जाय तो आश्चर्य नहीं, परंतु वह प्रतिमा केवल चिह्न मात्र होती है। सामान्य प्रत्यय एक वस्तु से कहीं ज़्यादा वस्तुओं का सूचक होता है, और किसी प्रकार की गुण-कल्पना की आकांक्षा नहीं करता। केवल उस का नाम ही उस के लिए पर्याप्त चिह्न होता है। कभी-कभी पूरा नाम भी नहीं होता। हालाँकि सामान्य प्रत्यय संबंधी विषय बहुत से होते हैं, यह बात नहीं कि एक वस्तु का सामान्य प्रत्यय हो ही नहीं सकता। यदि हम एक ही वस्तु का बार-बार प्रत्यक्ष करें, तो हमें उस एक ही वस्तु के सामान्य रूप का ज्ञान हो जाता है। उदाहरणार्थ, यदि हम एक हो व्यक्ति को एक बार बैठे हुए देखें, एक बार खड़े हुए, एक बार भागते हुए इत्यादि, तो हमें उस व्यक्ति का एक तरह सामान्य-रूप से ज्ञान हो जाता है। हम किसी विशेष अंग-स्थिति में ही नहीं जानते, बल्कि उस व्यक्ति को सामान्य रूप से जान लेते हैं, चाहे वह समय-समय पर कितनी ही विविध दशाओं में स्थित होता रहे।

सामान्य प्रत्यय उन्नति

ज्यों-ज्यों हम बढ़ते हैं हमारे सामान्य प्रत्ययों में परिवर्तन होते रहते हैं। जानवरों में और छोटे बच्चों में सामान्य प्रत्यय नहीं होते। एक विषयी प्रत्यय ही उन की ज्ञान उन्नति की चरम सीमा है। वे एक विषय का प्रत्यक्ष कर सकते हैं, एक विषय का प्रत्यक्षानुकरण कर सकते हैं—उस के आगे कुछ नहीं। पर बालकों में जल्दी ही सामान्य प्रत्यय उदय होने लगते हैं। तीन-चार वर्ष के बालक में ही माता-पिता, भ्राता, आदि सामान्य प्रत्यय उदय हो जाते हैं। परंतु छोटे बालक के माता प्रत्यय का वाह्य विषय उसी की माता होती है। उसे अभी यह पता नहीं होता कि सभी को माताएं होती हैं। उस के सामान्य प्रत्यय की

अपेक्षा, माता नामक एक बहुत विस्तृत सामान्य प्रत्यय भी हो सकता है। जब वह और बालकों को 'माता' कहते सुनता है और उन की माताओं को देखता है, तो उसे दीर्घतर सामान्य दृष्टि होती है, और वह समझने लगता कि माताएं बहुत होती हैं। प्रथम तो एक प्रकार की बहुत सी वस्तुओं का प्रत्यय करना ही सामान्य प्रत्यय निर्माण के लिए काफ़ी होता है। पर ज्यों-ज्यों अनुभव बढ़ता जाता है, सामान्य प्रत्ययों की संख्या भी बढ़ती जाती है और वे अधिकाधिक विस्तृत भी होते जाते हैं। पहले सामान्य प्रत्यय व्यक्ति-संबंधी होते हैं फिर वे जाति-संबंधी हो जाते हैं। पहले सामान्य प्रत्यय सीमित होते हैं। बालकों के और निरक्षर मनुष्यों के सामान्य प्रत्यय सीमित रहते हैं। ज्यों-ज्यों ज्ञान का दीर्घ चक्र बढ़ता जाता है सामान्य प्रत्यय भी विस्तृत होते जाते हैं।

सामान्य प्रत्यय उन्नति की बाबत एक अजीब बात यह है कि शुरू शुरू में बच्चों के सामान्य प्रत्यय आत्म-संबंधी होते

केंवल वाह्य-विषयी हैं—केवल वाह्य विषय सूचक नहीं होते। छोटा

सामान्य प्रत्यय

बालक यह समझता है कि दुनिया उसी के लिए बनी है—सूर्य उस को प्रकाश देने के लिए है, बादल उस के वास्ते जल वर्षाने के लिए, वृक्ष उस को फल देने के लिये। इस के अतिरिक्त, बालक सब वस्तुओं को अपने समान जीवित समझता है। यदि पत्थर से उस की ठोकर लग जाय और तुम पत्थर को मारो, तो बालक बड़ा प्रसन्न होता है। वह समझता है कि जैसे उसे पत्थर ने कष्ट दिया उसी तरह पिटने से पत्थर को कष्ट हो रहा है। सूर्य, चाँद, बादल आदि सब को छोटे बच्चे प्राणी ही समझते हैं। यह ज्ञान उन्हें बहुत पीछे होता है कि दुनिया में अजीवित वस्तुएं भी हैं, और दुनिया बालक के वास्ते ही नहीं बनी है—चाहे बालक हो या न हो, दुनिया हमेशा स्थित रहती है।

भाव-संबंधी सामान्य प्रत्यय

सामान्य प्रत्ययों की सब से महत्वपूर्ण उन्नति तब होती है जब मनुष्य में भाव-संबंधी सामान्य प्रत्यय उत्पन्न होने लगते हैं। प्रारंभिक सामान्य प्रत्यय वस्तु-संबंधी होते हैं। भाव-संबंधी सामान्य प्रत्यय बहुत पीछे उदय होते हैं। छोटे बच्चों में सुंदरता, बड़ाई-छोटाई, नवीनता आदि प्रत्याहृत विषयों के सामान्य प्रत्यय नहीं होते। छोटे बालक यह जानते हैं कि घर क्या होता है, अश्व क्या होता है, मनुष्य क्या होता है। परंतु वे यह नहीं जानते कि घटत्व क्या होता है, अश्वत्व क्या होता है, मनुष्यत्व क्या होता है। ज्यों-ज्यों जाति में सभ्यता बढ़ती जाती है, भाव-संबंधी सामान्य प्रत्ययों की संख्या भी बढ़ती जाती है और ज्यों-ज्यों मनुष्य बड़ा होता जाता है उस का अनुभव बढ़ता जाता है—उस में भी भाव-संबंधी सामान्य प्रत्यय बढ़ते जाते हैं।

प्रारंभिक सामान्य प्रत्यय प्रत्यक्ष अनुकारों से जुड़े रहते हैं। भाव संबंधी सामान्य प्रत्यय प्रत्यक्षानुकारों से बहुत भिन्न और स्वतंत्र होते हैं। उन में प्रायः गुण-कल्पना का कोई अंश नहीं होता। बहुत दफ़ा उन की स्थिति उन के नामों पर ही निर्भर होती है। यदि हम किसी शब्द का अर्थ समझते हैं तो जान लीजिए कि वह शब्द हम में एक सामान्य प्रत्यय की स्थिति का सूचक है, और कोई ढंग यह पता लगाने का है भी नहीं कि हम अमुक सामान्य प्रत्यय से परिचित हैं या नहीं।

विचार और भाषा

इस से ज्ञात होता है कि सामान्य प्रत्यय का और भाषा का कितना ज़्यादा संबंध है। बिना शब्दों के अति उन्नत सामान्य प्रत्ययों की स्थिति ही संभव नहीं, और जितने ज़्यादा शब्द आदमी जानता है उतने ही ज़्यादा सामान्य प्रत्ययों पर वह अधिकार रखता है। निर्णयों का भी यही हाल है। हमारे निर्णय भी भाषा द्वारा प्रकाशित होते हैं। सिवाय भाषा

के और कोई ढंग अपने निर्णयों को औरों के प्रति प्रकाशित करने का नहीं है।

जब कभी हम किसी वस्तु के किसी लक्षण का अभिधान करते हैं, हमारी जीववृत्ति निर्णयात्मक होती है। एक समाहृत प्रत्यय उपस्थित होता है और उस समाहृत प्रत्यय में से कोई विशेष गुण पृथक् कर के हम उसी प्रत्यय का विशेषण करते हैं। इस तरह हर एक निर्णय में एक विशेष्य होता है और उस का किसी लक्षण द्वारा विशेषण किया जाता है। विशेषण किए बिना निर्णय नहीं होता। उदाहरणार्थ, जब हम कहते हैं कि पुस्तक लाल है, तो प्रायः हम में पुस्तक अनुरूप एक समाहृत प्रत्यय होता है और उसी प्रत्यय में से लालिमा पृथक् करके हम उसी का निर्देश करते हैं। हम कहते हैं—'पुस्तक लाल है।' 'पुस्तक' इस निर्णय का विशेष है, 'लालिमा' विशेषण।

निर्णय

शुरू-शुरू में हमारे निर्णय प्रत्यक्षात्मक होते हैं। बड़े होकर जब हमारे सामान्य प्रत्यय उन्नत हो जाते हैं, तो हम परोक्ष निर्णय भी करने लगते हैं, जैसे कि 'सचाई मनुष्य का धर्म है,' 'ज्ञान से मोक्ष मिलता है,' 'नीलिमा पुस्तक की सुंदरता है' इत्यादि। इन निर्णयों के विशेष्य प्रत्यक्ष नहीं। विशेष्य और विशेषण दोनों परोक्ष हैं, दोनों सामान्य प्रत्यय हैं। इस के विपरीत, प्रत्यक्ष निर्णयों में विशेष्य प्रत्यक्ष होता है और विशेषण प्रत्यक्ष वस्तु का एक गुण होता है।

परोक्ष निर्णय

निर्णय भी, प्रत्ययों की भाँति, एक दूसरे से संबद्ध रहते हैं। जब हम कुछ निर्णयों के प्रमाण या प्रमेय रूप नए संबद्ध निर्णय प्राप्त करते हैं, तो इस जीववृत्ति को अनुमिति कहते हैं। अनुमिति का लक्षण केवल यही नहीं कि कुछ निर्णयों से, प्रत्यय संबंध नियम के अनुसार, एक नया

अनुमिति

निर्णय चेतना में उदय हो जाय। अनुमिति के लिए यह भी ज़रूरी है कि दिए निर्णयों में और नए निर्णय में एक विशेष संबंध हो। अनुमिति तभी होती कि जब इन निर्णयों में परस्पर साध्य-साधन संबंध हो, दिए हुए निर्णय और प्राप्त निर्णय में साध्य संबंध हो, यदि प्रमाण-रूप निर्णय ठीक हो तो प्रमेय-रूप निर्णय अवश्य ठीक होगा। जब तक निर्णयों में यह विशेष संबंध नहीं होगा वे निर्णय किसी अनुमिति के अंग नहीं कहलावेंगे।

दामोदर दास आज आ गए, इस निर्णय से हमें दामोदर दास भले आदमी हैं, इस निर्णय का ध्यान आ सकता है। पर यह दोनों निर्णय मिल कर अनुमिति प्रकट नहीं करते। इन दोनों में साध्य-संबंध नहीं। यदि यह निर्णय कि दामोदर दास आज आ गए सत्य है, तो दूसरा निर्णय कि दामोदर दास भले आदमी हैं, अवश्य-रूप से सत्य नहीं। सत्य भी हो सकता है, असत्य भी हो सकता है। परंतु यदि दामोदर दास ने अनेक स्वार्थ त्याग किए हैं, तो यह निर्णय कि दामोदर दास भले आदमी हैं, अवश्य सत्य होगा। दामोदर दास ने अनेक स्वार्थ-त्याग किये हैं और दामोदर दास भले आदमी हैं, इन दोनों निर्णयों में परस्पर साधन-साध्य संबंध है। इस वास्ते ये मिल कर अनुमिति-सूचक बनते हैं। यदि चाहें तो हम कह सकते हैं कि दामोदर दास भले आदमी हैं, क्योंकि उन्हों ने अनेक स्वार्थ-त्याग किए हैं। परंतु हम यह नहीं कह सकते कि दामोदर दास भले आदमी हैं, क्योंकि वे आज आ गए हैं।

अध्याय १४

विचार और भाषा

वैज्ञानिक चेतना

हम पहले कह आए हैं कि जीव-वृत्तियां दो प्रकार की होती हैं, मानसिक और वैज्ञानिक। प्रत्यक्ष ज्ञान, प्रत्यक्षानुकरण, भोग, उद्वेग, साहसिक क्रियाएं, ये सब मानसिक वृत्तियां हैं। उन्नत सामान्य प्रत्यय ज्ञान, निर्णय, अनुमिति, सोच-समझ कर की हुई क्रिया, ये सब वैज्ञानिक वृत्तियां हैं। वैज्ञानिक चेतना-वृत्तियों में, विषय-चेतना के अलावा, आत्मवृत्ति-ज्ञान भी होता है। जब कोई मनुष्य विचार करता है तो वह विविध विषयों की बाबत सोचता है और साथ ही यह भी जानता है कि मैं अमुक विषयों की बाबत सोच रहा हूं। जीव-विकास के मानसिक पद पर चेतना होती है, पर जीव को यह पता नहीं रहता कि मुझे अमुक चेतना हो रही है।

जानवरों को प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, परंतु उन्हें यह पता नहीं होता कि हमें अमुक प्रत्यक्ष ज्ञान हो रहा है। सयाने मनुष्यों में भी मानसिक वृत्तियां उपस्थित होती हैं। उस समय उन्हें भी पता नहीं रहता कि उन के मन में कौन जीववृत्ति उपस्थित है। उस समय वे केवल विषय ही में लीन रहते हैं, अपनी बाबत नहीं सोचते। जब कोई मनुष्य अत्यंत क्रुद्ध होता है तो उसे जिस वस्तु से वह ख़फ़ा होता है उस का ज्ञान होता है, और उस वस्तु के सारे दोष उस मनुष्य के सामने होते हैं। परंतु उसे यह पता नहीं होता कि मैं क्रोध के वश में हूं। यदि उसे यह पता हो जाए तो शायद उस का क्रोध शांत हो जाय। वैज्ञानिक वृत्तियों में यह ज्ञान रहता है। वैज्ञानिक चेतनाएं ज्ञान-चेतनाएं होती हैं। उदाहर-

णार्थ, जब कोई मनुष्य कुछ निर्णय कर रहा होता है, तो उसे पता रहता है कि मैं क्या सोच रहा हूं। उस समय उस मनुष्य की अवस्था ऐच्छिक अवधान की होती है।

जैनमत

जैनमत यह है कि ज्ञान अपने विषय को भी प्रकाशित करता है और अपने आप को भी। जैन यह समझते हैं कि जब कभी आत्मा को किसी विषय का ज्ञान होता है तो साथ ही आत्मा को अपना भी ज्ञान होता है।

मीमांसा-सिद्धांत

यही मीमांसकों का त्रिपुटि-प्रत्यक्ष सिद्धांत है। जब कभी ज्ञान होता है तो ज्ञाता और ज्ञेय दोनों उपस्थित होते हैं। आत्मा का अपना भी ज्ञान होता है और विषय का भी। ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान इन तीनों का होना ज़रूरी है।

यह ठीक है कि विषय का ज्ञान होने पर जीव को कभी-कभी यह भी ज्ञान हो जाता है कि मुझे अमुक ज्ञान हुआ। परंतु प्रत्येक ज्ञानवृत्ति में यह दूसरी चेतना-वृत्ति शामिल रहती हो, यह बात नहीं। कोई-कोई चेतना-वृत्तियां ज्ञात होती हैं, कोई-कोई अज्ञात। चेतनाएं जीव ही की वृत्तियां होती हैं, और जब किसी को अपनी चेतना का ज्ञान होता है तो एक तरह से उसे अपना ही ज्ञान होता है। इस प्रकार ज्ञात चेतनाओं में आत्मज्ञान सम्मिलित रहता है। परंतु आत्मज्ञान का मतलब यहां आत्मा का ज्ञान नहीं है. केवल आत्म-वृत्तियों का ज्ञान है।

जानवरों में न ऐच्छिक अवधान होता है न ज्ञात चेतना। वे सोच समझ कर काम नहीं कर सकते। वे जीव-विकास के प्रारंभिक पद पर ही रहते हैं। न उन के सामान्य प्रत्यय उन्नत होते हैं. न उन में निर्णय और तर्क की योग्यता होती है। सामान्य प्रत्यय ज्ञान, निर्णय, विमर्श, ये जीव-वृत्तियां प्रौढ़ मनुष्यों में ही संभव हैं, क्योंकि वे विकास के दूसरे पद पर पहुँचे हुए होते हैं। भाषा का प्रयोग भी विकास के दूसरे पद पर ही संभव

है, पहले पद पर नहीं। जीववृत्ति-विज्ञान की दृष्टि से जानवर भाषा का प्रयोग नहीं करते, हालाँकि प्राचीन साहित्य में बहुत-सी कथाएं ऐसी मिलती हैं, जिन में जानवरों की बोली समझने वाले मनुष्यों का ज़िक्र आया है।

भाषा का विकास

चेतना-वृत्तियां कर्मेंद्रिय क्रियाओं द्वारा प्रकाशित होती हैं। शायद भाषा का विकास यहीं से हुआ है। यदि जीव-वृत्तियां पेशी और ग्रंथि-क्रियाओं में परिणत न हुआ करतीं, तो किसी जीव को किसी दूसरे जीव की चेतना-वृत्तियों का कभी पता ही न लगता। पर प्रत्येक कर्मेंद्रिय क्रिया भाषा नहीं होती। यदि दुःख के कारण कोई चिल्लाता है तो दूसरों को अवश्य पता लग जाता है कि वह प्राणी दुःखित है, परंतु उस का क्रंदन भाषा नहीं कहला सकता। भाषा में वही पेशी-क्रियाएं शामिल हैं जो कोई प्राणी इस अभिप्राय से करे कि किसी को उस की चेतना-वृत्तियों का पता चल जाय। यदि कोई दुःख में अपने मित्र को पुकारता है कि मित्र आकर उस दुखी की सहायता करे, तो अवश्य वह प्राणी भाषा का प्रयोग करता है।

अपनी चेतना-वृत्ति को दूसरे के प्रति प्रकट करने का अभिप्राय तभी उपस्थित हो सकता है जब कि प्राणी में अपनी चेतना-वृत्ति का ज्ञान हो। अज्ञात चेतना-वृत्ति के प्रकाशित करने का प्रयोजन ही असंभव है। अतएव विकास के प्रारंभिक क्रम पर भाषा का प्रयोग नहीं होता। भाषा-प्रयोग शनैः शनैः परिष्कृत होता है—व्यक्तियों में भी और मनुष्य-जाति में भी। असभ्य मनुष्य और छोटे बालक भाषा का इतना प्रयोग नहीं कर सकते जितना सयाने मनुष्य कर सकते हैं।

इंगित भाषा

भाषा-विकास भी एक रोचक विषय है। पहले-पहल इंगित भाषा उदय होती है। होता यह है कि चेतना-वृत्तियों के नैसर्गिक क्रियारूप परिणाम ही उन चेतनाओं से संबद्ध हो जाते हैं और अवसर पड़ने पर इशारे का काम देते हैं। क्योंकि सब जानते हैं कि पीड़ित जीव क्रंदन करता है, इस

लिए जब औरों को यह बताना पड़ता है कि हम पीड़ित हैं तो हम जान-बूझ कर क्रंदन करने लगते हैं। यदि और कोई मनुष्य निकट न हो तो शायद हम क्रंदन न करें। इंगितों द्वारा मतलब ज़ाहिर करना भाषा प्रयोग का प्राथमिक ढंग है। बहुत छोटे बच्चे इस का अवलंबन करते हैं और असभ्य मनुष्य इस के आगे बढ़ ही नहीं सकते।

ज्यों-ज्यों सभ्यता बढ़ती जाती है शब्द-भाषा का प्रयोग बढ़ता जाता है। सभ्य जातियों के कोश विस्तृत होते हैं, असभ्य जातियों के सीमित। पंडित अनेक शब्दों का अर्थ समझते हैं, निरक्षर बहुत थोड़े शब्दों का। परंतु सभ्य और विद्वान् होकर इंगित-भाषा का प्रयोग बिल्कुल नष्ट हो जाय, यह बात नहीं। सभ्य और विद्वान् मनुष्य भी यथावसर इंगितों का प्रयोग करते हैं, बल्कि कोई-कोई सूक्ष्म जीव-वृत्तियां ऐसी हैं कि वे इंगितों द्वारा ही प्रकाशित हो सकती हैं, शब्दों द्वारा नहीं। अत्यंत शोक, ईर्षा, मार्दव, हास्यभाव आदि बहुत सी जीव-वृत्तियां शब्दों द्वारा प्रकट नहीं की जा सकतीं। ऐसे समय पर शब्दों के साथ-साथ इंगितों का भी प्रयोग किया जाता है। परंतु निर्णय, तर्क, आदि उच्च जीव-वृत्तियां बिना शब्दों के जीव स्वयं भी नहीं अनुभव कर सकता, दूसरों के प्रति प्रकाशित करने का तो कहना ही क्या है! बिना शब्द-प्रयोग के सामान्य प्रत्यय अनुभव असंभव है, निर्णय और तर्क असंभव है, विमर्श-विचार असंभव है।

अध्याय १५

स्थायी भाव

अंतः जीववृत्तियों का प्रेरक रजस है, यह हम पहले कह आए हैं। **संस्कार-परिवर्तन** राजस संस्कारों की प्रवृत्ति से ही समस्त जीववृत्तियां प्रेरित होती हैं। मगर जीव के राजस संस्कारों में हमेशा परिवर्तन होता रहता है। ज्यों-ज्यों अनुभव बढ़ता जाता है, राजस संस्कार वेश बदलते जाते हैं। प्रेरणा-स्रोत तो वही रहता है, केवल प्रवाह का रूप बदल जाता है। हर एक अनुभव अपना असर जीव पर डालता है और नतीजा यह होता है कि जब कभी कोई संस्कार दूसरी बार प्रवृत्त होता है, तो उस के परिणामरूप जीव-वृत्ति वैसी ही नहीं रहती जैसी कि पहली बार थी। मानो संस्कार अपना रूप बदल लेता है।

मान लीजिए कि एक बार जंगल में आप को एक भालू मिल गया। आप भालू को देख कर भयभीत हो गए। आप भय नामक उद्वेग के पंजे में पड़ गए। न मालूम आप ने क्या-क्या कहा और क्या-क्या किया। भय नामक राजस संस्कार ने आप से जो कुछ कराया वह आप ने किया। अब मान लीजिए कि दूसरी बार फिर आप की एक दिन भालू से भेंट हो गई। आप के राजस संस्कार अवश्य फिर प्रवृत्त होंगे। परंतु आप का भयभीत व्यवहार इस समय पहले व्यवहार से कुछ भिन्न होगा। प्रथम जीव-वृत्ति अवश्य अपना कुछ प्रभाव आप के ऊपर छोड़ गई थी। इस के कारण आप के भय नामक राजस संस्कार में अवश्य कुछ अंतर हो गया होगा। इसी वास्ते आप का दूसरा भय-व्यवहार आप के पहले भय-व्यवहार से भिन्न होगा।

यदि इसी तरह आप को कई बार जंगल में रीछ मिले तो आप का भय-संस्कार एक विशेष रूप धारण कर लेगा। या तो आप उस जंगल में जाते हुए ही डरने लगेंगे, या आप रीछों के प्रति बिल्कुल निडर हो जायँगे। यह इस बात पर निर्भर होगा कि आप को रीछ से कभी कुछ हानि पहुँची है या नहीं। यदि आप बार-बार सही-सलामत रीछ से बच कर निकल आए हैं, तो आप में रीछों के प्रति एक प्रकार की वीरता उत्पन्न हो जायगी। परंतु यदि आप को कभी किसी भालू ने बहुत सताया है तो आप रीछों के जंगलों में जाने से डरने लगेंगे। आप में एक प्रकार की कायरता उत्पन्न हो जायगी। भय एक राजस संस्कार है। यह सब प्राणियों में स्वभाव से ही होता है। पर भालू के प्रति कायरता का भाव स्वाभाविक नहीं होता और सब प्राणियों में नहीं पाया जाता।

जब भालू से डरने वाला मनुष्य जंगल में अकेला जाता है तो उस में कायरता भाव प्रकट हो जाता है। परंतु जब ऐसा मनुष्य घर में सुरक्षित बैठा होता है तब भी उस की बाबत कह सकते हैं कि वह मनुष्य भालू से डरता है। अतएव भालू से डरने का भाव केवल तात्कालिक नहीं, संस्कार-रूप में सदैव स्थित रहता है। जो आदमी भालू से डरता है वह हमेशा भालू से डरता है, चाहे वह घर में हो या जंगल में। जो आदमी डरपोक है वह हर समय डरपोक है, चाहे कोई ख़तरा उस के सामने उपस्थित हो या न हो। इस कारण ऐसे भावों को स्थायी भाव कहते हैं। कायरता और वीरता स्थायी भावों के उदाहरण हैं।

स्थायी भाव भी, राजस संस्कारों की भाँति, संस्कार हैं। परंतु वे राजस संस्कारों की तरह जन्मसिद्ध नहीं। वे जीवन-काल में ही उपार्जित किए होते हैं। इस का मतलब यह नहीं कि स्थायी भाव बिल्कुल नए संस्कार होते हैं, जिन की बुनियाद प्राणी अपने जीवन में ही डालता है। वृत्ति-संबंध ऐसे अर्जित संस्कार होते हैं। ये संस्कार पूर्णतया इस जीवन

में ही बनते हैं। परंतु स्थायी भाव किसी न किसी राजस संस्कार के आधार पर स्थापित किए जाते हैं।

स्थायी भावों की उत्पत्ति

प्रारंभिक स्थायी भाव केवल वृत्ति-संबंध नियम के अनुसार निर्मित होते हैं। यदि कोई मनुष्य किसी बच्चे को हमेशा डाँटता-घुड़कता रहे तो उस बालक के हृदय में मनुष्य के प्रति डर और घृणा भाव पैदा हो जाते हैं। जब कभी वह बालक उस मनुष्य को देखता है तो सहम जाता है और उस का नाम सुन कर प्रसन्न नहीं होता। किसी मनुष्य का डर या उस के प्रति घृणा स्थायी भावों के उदाहरण हैं। इन स्थायी भावों की रचना बड़ी सीधी है। भय और आत्म-गुरुत्व राजस संस्कारों का एक विशेष व्यक्ति से संबंध जुड़ा और बस, एक स्थायी भाव तैयार है। स्वाभाविक सामान्य भय और गुरुत्व विशेष डर और विशेष घृणा संस्कारों में बदल जाते हैं। भय और प्रमाद नामक उद्वेगों का इस विशेष मनुष्य के प्रत्यय से संबंध जुड़ जाता है। बालक के भय और प्रमाद का विषय वह व्यक्ति बन जाता है।

उन्नत स्थायी भाव इन स्थायी भावों की अपेक्षा कहीं ज़्यादा सूक्ष्म और विषम होते हैं। परिष्कृत स्थायी भावों में उद्वेगों का संबंध परिष्कृत सामान्य प्रत्ययों से जुड़ जाता है, और प्रायः उन के निर्माण में विचार भी हिस्सा लेता है। मान लिया जाय कि आप ने एक बार झूठ बोला। आप को पश्चात्ताप हुआ और पश्चात्ताप के कारण दुःख हुआ। आप ने सोचा, "झूठ बोलना बहुत बुरा है। चाहे झूठ बोलने से हमें कितना ही लाभ क्यों न हो, यह हमारा धर्म नहीं है। हमें झूठ नहीं बोलना चाहिए।" मान लीजिए कि कुछ दिनों बाद फिर एक ऐसा अवसर आया कि आप को झूठ बोलने का प्रलोभन हुआ। संभव है कि इस बार फिर आप झूठ बोल दें। पर झूठ बोलने से पहले शायद आप कुछ संकोच करें और झूठ बोलने के बाद फिर सोचें, "झूठ बोलना हमारा धर्म नहीं। सांसारिक लाभ के

लिए धर्म गँवाना ठीक नहीं।" अब यदि तीसरी बार फिर आप को झूठ बोलने का प्रलोभन हो तो शायद आप झूठ न बोलें और शनैः-शनैः आप झूठ से ऐसा डरने लगें जैसे कोई शेर से डरता है।

झूठ बोलने का डर भी एक स्थायी भाव है। पर यह ऊँचे दर्जे का स्थायी भाव है। झूठ स्वयं ही एक उन्नत सामान्य प्रत्यय का विषय है। झूठ का कोई स्थूल रूप नहीं, न इस की कोई प्रतिमा आदि है। झूठ का डर तब उत्पन्न होता है जब झूठ नामक सामान्य प्रत्यय का संबंध भय नामक उद्वेग से जुड़ जाता है। यह संबंध कोई साधारण वृत्ति-संबंध नहीं, जो केवल पुनरावृत्ति के कारण उपज गया हो। यह संबंध सोच-विचार के पश्चात बँधा है। आप ने स्वयं देख भाल कर यह संबंध बाँधा है। इस कारण झूठ का डर एक उन्नत स्थायी भाव है। भालू के डर की भाँति साधारण स्थायी भाव नहीं।

सब उन्नत स्थायी भाव एक ही जैसे हों, यह बात नहीं। स्थायी भावों में एक से एक ऊँचा होता है। इन की पर्वत जैसी शृंखलाएं होती हैं। जितना सामान्य प्रत्यय विस्तृत होता है और जितना उस का विषय सूक्ष्म और गूढ़ होता है, उतना ही उस प्रत्यय संबंधी स्थायी भाव उन्नत होता है। प्रारंभिक स्थायी भावों के विषय व्यक्ति-रूप मनुष्य और पदार्थ होते हैं, हम किसी चीज़ से प्रेम करते हैं, किसी से घृणा। किसी मनुष्य का हम सम्मान करते हैं, किसी की परवाह नहीं करते। किसी पर हम दयालु होते हैं, किसी के प्रति कठोर। ये सब हमारे प्रारंभिक स्थायी भाव हैं। इस प्रकार के नीचे दर्जे के स्थायी भाव बालकों में जल्दी ही स्थापित हो जाते हैं।

इन से ऊँचे दर्जे के स्थायी भाव वे हैं जिन के विषय कोई एक मनुष्य या एक पदार्थ नहीं बल्कि वस्तु या मनुष्य जातियां हैं, उदाहरणार्थ जानवरों से प्रेम, पहाड़ों का डर, गिलगिली वस्तुओं से घृणा आदि। इन से भी उन्नत वे स्थायी भाव हैं जिन के विषय अति सूक्ष्म हैं, उदाहरणार्थ

सफ़ाई का शौक़, सत्य से प्रेम, झूठ से घृणा आदि। सब से बढ़ कर स्थायी भाव वे हैं जिन में कई राजस संस्कार मिले रहते हैं और जिन के विषय अति विस्तृत, सूक्ष्म तथा गूढ़ होते हैं।

मान लीजिए कि आप राम के भक्त हैं। राम से आप को प्रेम है। यदि कोई राम की निंदा करे तो आप कुपित होते हैं। राम के गुणों का आप संचय करते हैं। यदि कोई रामकथा आप को सुनाए तो आप उत्सुक हो जाते हैं और यदि आप में यह विचार उदय हो जाय कि कहीं राम-विमुख न हो जाँय तो आप भयभीत हो जाते हैं। अब देखिए कि कितने राजस संस्कार आप के 'राम' प्रत्यय के इर्द-गिर्द जमा हो गए हैं। प्रेम, कोप, संचय, उत्सुकता, भय, ये सब राजस संस्कार राम-भक्ति के अंतर्गत हैं। फिर, राम कोई स्थूल विषय नहीं। यह सामान्य प्रत्यय ही बड़ा विस्तृत, बड़ा सूक्ष्म और बड़ा गूढ़ है। इस के अतिरिक्त, राम-भक्ति विषय का दीर्घ चक्र कोई सीमाबद्ध दायरा नहीं। राम-भक्ति में स्वार्थ का कोई स्थान नहीं। राम-भक्तों के लिए बसुधा कुटुंब मात्र है। अतएव राम-भक्ति अति उन्नत स्थायी भाव है।

अध्याय १९

व्यवसाय और चरित्र

स्थायी भावों में सब से उत्तम आत्म-संबंधी स्थायी भाव हैं। जैसे बाह्य-विषयी प्रत्यय और सामान्य प्रत्यय बनते हैं, उसी तरह आत्म-संबंधी प्रत्यय और सामान्य प्रत्यय भी बन जाते हैं। मनुष्य अपने आप को देखते हैं, अपनी बाबत विचार करते हैं, अपने आप को बुरा-भला समझते हैं। प्रत्येक मनुष्य का कोई न कोई आत्म-संबंधी सामान्य प्रत्यय होता है, जिस का वह ख़ुद ही विषय होता है। प्रत्येक मनुष्य को अपना ज्ञान होता है। परंतु हर एक मनुष्य का आत्म-संबंधी सामान्य प्रत्यय एक-सा नहीं होता। कोई अपने आप को बड़ा समझता है, कोई छोटा, कोई श्रेष्ठ कोई तुच्छ। जैसा जिस का आत्म-संबंधी सामान्य प्रत्यय होता है वैसा ही उस का आत्म-संबंधी स्थायी भाव होता है। आत्म-विषयी अनुभवों द्वारा राजस संस्कार आत्म-विषयी सामान्य प्रत्यय से जुड़ जाते हैं और आत्म-विषयी सामान्य प्रत्यय के अनुकूल ही उन में परिवर्तन हो जाता है। जिस का आत्म-संबंधी सामान्य प्रत्यय विस्तृत और श्रेष्ठ होता है, उस का आत्म-संबंधी स्थायी भाव भी उत्तम होता है। जिस का आत्म-संबंधी प्रत्यय सीमित होता है, और स्वार्थ के आधार पर बना होता है, उस का आत्म-संबंधी स्थायी भाव भी नीचा होता है।

आत्म-सम्मान

आत्म-विषयी सामान्य प्रत्यय उन्नत होने से आत्म-सम्मान उत्पन्न होता है। सीमा-बद्ध आत्म-संबंधी सामान्य प्रत्यय होने से प्रमाद उपजता है। जिन मनुष्यों में आत्म-सम्मान होता है उन की दृष्टि महान् होती है। जिन में प्रमाद होता है उन की दृष्टि क्षुद्र होती है। आत्म-सम्मान भाव से युक्त

मनुष्य किसी से नहीं डरते। यदि वे डरते हैं तो परमेश्वर से डरते हैं, या बुरे काम करने से डरते हैं। आत्म-सम्मान रखने वाले मनुष्य पुण्य संचित करते हैं और पापों के प्रति क्रोध प्रकट करते हैं। वे धन-संचय में नहीं लगे रहते और न किसी मनुष्य से ख़फ़ा होते हैं।

आत्म-सम्मान के भी कई दरजे हो सकते हैं। किसी का आत्म-प्रत्यय बहुत छोटा होता है, किसी का उस से बड़ा और किसी का बहुत बड़ा। ज्यों-ज्यों आत्म-प्रत्यय विस्तृत होता जाता है आत्म-सस्मान भी बढ़ता जाता है। कोई मनुष्य समझता है कि चोरी करना उस के आत्म-भाव के विरुद्ध है, परंतु झूठ बोलना उस के विरुद्ध नहीं। कोई समझता है कि झूठ बोलना उस के आत्म-विषयी सम्मान्य प्रत्यय के विरुद्ध है, परंतु बिना झूठ बोले नाजायज़ फ़ायदा उठाना इस के विरुद्ध नहीं। और कोई-कोई मनुष्य ऐसे हैं जो औरों के वास्ते अपना नुक़सान करना आत्म-प्रत्यय के अनुकूल समझते हैं, परोपकार ही अपना धर्म समझते हैं।

चरित्र

यों तो मनुष्य के सभी स्थायी भाव मिल कर उस के चरित्र का निर्माण करते हैं। जैसे-जैसे जिस के स्थायी भाव होते हैं वैसा ही उस का चरित्र होता है। परंतु चरित्र-संगठन में सब से प्रधान भाग आत्म-सम्मान का है। सारे स्थायी भाव आत्म-सम्मान के ही इर्द-गिर्द जुड़े रहते हैं। जैसा जिस का आत्मभाव होता है वैसे ही उस के स्थायी भाव बन जाते हैं। मानो आत्म-सम्मान स्थायी भावों का राजा है, और चरित्र-गठन का नियम 'यथा राजा तथा प्रजा है'। जिस में आत्म-सम्मान नहीं उस में चरित्र नहीं। वह अपने राजस संस्कारों और स्वतंत्र स्थायी भावों का ही ग़ुलाम है। उस की अपनी स्थिति कुछ नहीं।

मान लीजिए कि एक मनुष्य को कुछ धन पड़ा मिलता है। यदि वह मनुष्य उस धन को उठा कर ले जाता है तो वह उस समय संचय-संस्कार के अधीन काम करता है और उस पशु के समान है जो भोजन

देखते ही, चाहे वह किसी का हो, खाना शुरू कर देता है। पर मान लिया जाय कि जिस मनुष्य को धन पड़ा मिलता है वह सोचता है कि उठा कर तो ले जाऊं, परंतु यदि कोई देख लेगा तो राजदरबार से दंड मिलेगा. और यह सोच कर वह पराया धन नहीं उठाता। ऐसा मनुष्य केवल राजस संस्कार के ही फंदों में फँसा नहीं है। उस में स्थायी भाव उत्पन्न हो चुके हैं। वह राज-दंड से डरता है। राज-दंड का भय कोई प्राकृतिक संस्कार नहीं। यह एक स्थायी भाव है। परंतु जो मनुष्य राज-दंड से डरता है उस का चरित्र कुछ उत्तम नहीं। वह नीचे दरजे का आदमी है। उस के स्थायी भाव अधम हैं।

अब मान लीजिए कि पराए धन को पड़ा देख कर कोई आदमी यह सोचता है कि राज-दंड से तो मैं बच जाऊँगा, परंतु यदि मेरे मित्र मुझे चोरी करते देख लेंगे तो क्या कहेंगे ? वे मुझे नीच समझेंगे। और यह सोच कर वह चोरी नहीं करता। यह मनुष्य उस से अच्छा है जो राज-दंड से डर कर चोरी नहीं करता। इस में समाज-संबंधी स्थायी भाव बन गए हैं। इस का चरित्र अपेक्षतया उत्तम है।

यह भी हो सकता है कि पराए धन को देख कर कोई मनुष्य सोचे कि राज-दंड की या सामाजिक अपवाद की तो मुझे परवाह नहीं, परंतु मुझे परमेश्वर के पास जाना है। परमात्मा सर्वज्ञ है। चोरी करके मैं अपने ईश्वर को क्या मुँह दिखाऊँगा ? इस मनुष्य में परमेश्वर-संबंधी स्थायी भाव बन गए हैं। इस में परमेश्वर का भय है, परमेश्वर के प्रति मैत्री है। परमेश्वर सूक्ष्म विषय है और परमेश्वर-विषयी सामान्य प्रत्ययों की उपस्थिति से मालूम होता है कि इस मनुष्य का विकास ऊँचे दरजे तक हो चुका है। इस के स्थायी भाव विस्तृत और सूक्ष्म-विषयी हैं। इस का चरित्र अति श्रेष्ठ है। पर यह मनुष्य भी अभी विकास की अंतिम सीढ़ी तक नहीं पहुँचा है।

अंत में मान लीजिए कि पराए धन को देख कर कोई मनुष्य कहता

है, "कोई मुझे देख नहीं रहा है। मैं आसानी से चोरी कर सकता हूं। ईश्वर भले ही देख रहा हो। परंतु चाहे ईश्वर हो या न हो, चोरी करना तो मेरे धर्म के विरुद्ध है। मैं और चोरी एक-दूसरे के विरोधी हैं। मैं चोरी नहीं कर सकता। चोरी करने का मेरे आत्म-भाव में कोई स्थान नहीं। ऐसे मनुष्य का चरित्र सब से बढ़ कर है। उस के चोरी न करने का प्रेरक उस का आत्म-संबंधी स्थायी भाव है। वह चोरी करने को आत्म-सम्मान के ख़िलाफ़ समझता है। जिस मनुष्य का आत्म-विषयी स्थायी भाव दृढ़ और श्रेष्ठ होगा उस के सब काम ही पुण्यमय होंगे, उस के लिए पाप करना असंभव होगा, उस की दृष्टि विस्तृत होगी, और उस का चरित्र सब से उत्तम होगा।

चरित्र-संगठन के क्रम

चरित्र-गठन का पहला क्रम स्थायी भावों का बनना है। यदि स्थायी भाव न हों, तो चरित्रहीन मनुष्य राजस संस्कार के बंधन में ही बँधा रहे और जानवरों की तरह हमेशा उद्वेगात्मक क्रियाएं करता रहे। स्थायी भाव के निर्माण से हमें अपने अंतःक्षोभों के ऊपर अधिकार मिलता है। स्थायी भाव बना कर हम उद्वेगों को अपने वश में करते हैं। यदि कोई राजस संस्कार प्राकृतिक स्वरूप में प्रवृत्त हो उठे तो परिणाम अंतःक्षोभ होता है। परंतु प्रौढ़ मनुष्य नग्न राजस संस्कार प्रेरित क्रियाएं बहुत कम करते हैं। प्रायः हमारी जीव-वृत्तियों के प्रेरक हमारे स्थायी भाव ही होते हैं। और ज्यों-ज्यों हमारे स्थायी भावों में उन्नति होती जाती है, हम सच्चरित्र बनते जाते हैं। जैसे स्थायी भाव बनते जाते हैं, आपस में संबंध जोड़ते जाते हैं। केवल स्वतंत्र स्थायी भावों का निर्माण चरित्र नहीं कहलाता। चरित्र स्थायी भावों के संगठन से बनता है। यदि हमारे स्थायी भाव एक-दूसरे के विरोधी रहें तो हमारा चरित्र नहीं बनेगा—कभी कोई स्थायी भाव बलात् उत्कृष्ट हो जायगा कभी कोई, और हमारे स्थायी भावों में ऐक्य न रहेगा।

स्थायी भावों का संगठन चरित्र-संगठन का दूसरा क्रम है। स्थायी भावों के संगठन के लिए यह जरूरी है कि इन में परस्पर अनुपात हो—कोई स्थायी भाव इतना प्रबल न हो कि उस के कारण दूसरे स्थायी भाव गौण हो जाँय। उदाहरणार्थ यदि किसी मनुष्य में क्रोध का अंश बहुत बढ़ जाय तो संभव है कि उस में मार्दव का अभाव ही हो जाय। इसी तरह यदि किसी मनुष्य में संचय-संबंधी स्थायी भाव बहुत प्रबल हो जाय तो वह मनुष्य कृपण हो जायगा और उस में दया, दान, नम्रता, आदि भाव उत्पन्न न होंगे। उस के चरित्र का यथोचित निर्माण न होगा।

चरित्र-निर्माण का तीसरा क्रम आत्म-सम्मान की उत्पत्ति है। असल में चरित्र तभी बनता है जब आत्म-संबंधी स्थायी भाव पूर्णतया स्थापित हो जाते हैं। वाह्य-विषयी और सूक्ष्म क्यों न हों, आत्म सम्मान के बिना वे कुछ भी नहीं, आत्म-सम्मान ही स्थायी भावों को इकट्ठा करता है। आत्म-सम्मान द्वारा व्यवस्थित उच्च कोटि के स्थायी भाव ही सच्चरित्र कहलाते हैं।

———

अध्याय १७

व्यवसाय

हम ने कर्मेंद्रियों का वर्णन किया है, परंतु विविध प्रकार की क्रियाओं का अभी तक उल्लेख नहीं किया। जीव-वृत्तियां दो

जीववृत्ति-विभाग

प्रकार की होती हैं—ज्ञानात्मक और क्रियात्मक। प्रायः हमारी जीव-वृत्तियां अंशतः ज्ञानात्मक और अंशतः क्रियात्मक होती हैं। प्राणियों को हर वक्त कुछ न कुछ ज्ञान होता रहता है और वे हर वक्त कुछ न कुछ करते रहते हैं। परंतु जिन जीव-वृत्तियों में ज्ञान प्रधान होता है उन्हें ज्ञानात्मक वृत्तियां कहते हैं और जिन में क्रिया प्रधान होती है उन्हें क्रियात्मक।

जीव की सब से सादी क्रियाएं सहज क्रियाएं कहलाती हैं। सहज क्रियाएं दो प्रकार की होती हैं—ज्ञात और अज्ञात।

सहज क्रिया

सहज क्रियाएं चाहे ज्ञात हों या अज्ञात, ये हमेशा इंद्रिय उत्तेजना के कारण प्रवृत्त होती हैं। पहले कोई न कोई ज्ञान-इंद्रिय, विषय-सन्निहित होने से, उत्तेजित होती है। वह इंद्रिय-परिवर्तन ज्ञान-तंतुओं द्वारा निचले मज्जा-केंद्रों में पहुँचता है और उन्हें उत्तेजित करता है। यह केंद्र-प्रवर्तन क्रिया-तंतुओं द्वारा पेशियों या ग्रंथियों में पहुँचता है और उन में क्रिया उत्पन्न करता है। ये पेशी और ग्रंथि-क्रियाएं ही जीव की क्रियात्मक वृत्तियां हैं।

शरीर में ये सब परिवर्तन होते हुए भी, आश्चर्य है कि प्राणी को कभी-कभी इन का कुछ भी ज्ञान नहीं होता। अपनी अज्ञात सहज क्रियाओं का हमें पता भी नहीं चलता। यद्यपि प्रति क्षण हम ऐसी बहुत सी क्रियाएं करते रहते हैं—हम अपने भोजन को पचाते हैं,

अपने रक्त को घुमाते हैं, विविध ग्रंथियों में से उपयुक्त ग्रंथि-रस निकालते हैं इत्यादि, तो भी हमें ख़ुद इन क्रियाओं का कुछ भी पता नहीं चलता। विषय-संयोग होता है और क्रिया स्वयं पूर्ण हो जाती है।

कोई-कोई सहज क्रियाएं ऐसी भी होती हैं जिन को हम अपनी इच्छा से तो नहीं करते, परंतु उन का हमें पता चल जाता है। हम-जान कर खाँसते हैं न जान कर क्षण-क्षण पर पलक मारते हैं। परंतु जब यह कार्य होते हैं तो प्रायः हमें इन का पता चल जाता है। कारण यह कि जिन पेशियों द्वारा ये क्रियाएं होती हैं वे स्वयं ज्ञानेंद्रियां हैं और हमें अपनी क्रियाओं का ज्ञान प्रदान करती रहती हैं।

सहज क्रियाओं की पूर्ति में मस्तिष्क-शिरोवेष्टन कुछ भाग नहीं लेता। इसी लिए सहज क्रियाएं चेतना-वृत्तियां नहीं होतीं। इंद्रिय उत्तेजना तुरंत क्रिया में परिणत हो जाती है। यही दो सहज क्रिया के प्रधान लक्षण हैं—ये चेतना-रहित होती हैं और अव्यवहित प्रतिक्रियात्मक होती हैं।

सहज क्रियाओं की महत्ता

सहज क्रियाओं के मूलाधार जन्मसिद्ध संस्कार होते हैं। हर एक प्राणी में जन्म से ही ऐसे संस्कार होते हैं कि विशेष इंद्रिय उत्तेजना होने पर स्वयं विशेष क्रिया उत्पन्न हो जाय। ये संस्कार जीव के लिए अत्यंत उपयोगी होते हैं। ये संस्कार आत्मरक्षा के कार्य में हमारी बड़ी सहायता करते हैं और अनेक हानियों से हमें बचाते हैं।

साहसिक क्रियाएं

सहज क्रियाओं से ज़्यादा पेचीदा हमारी साहसिक क्रियाएं होती हैं। साहसिक क्रियाएं भी हम सोच-समझ कर नहीं करते। परंतु ये चेतना-रहित नहीं होतीं। पहले हमें किसी वस्तु का प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, या उस का ध्यान आता है, फिर हम उस के प्रति कुछ करते हैं। साहसिक क्रिया होते समय मज्जा-संस्थान के वे सब भाग उत्तेजित होते हैं जो सहज

क्रिया होते समय उत्तेजित होते हैं, और इन के अलावा, साहसिक क्रिया में मस्तिष्क शिरोवेष्टन भी शामिल होता है। इसी कारण चेतना उत्पन्न होती है—हमें कोई प्रत्यक्ष ज्ञान होता है या प्रत्यक्षानुकरण। प्रायः न्यूनाधिक सुख-दुख भी होता है और इस के अतिरिक्त कोई न कोई क्रिया-संबंधी चेतना भी होती है। क्रिया-संबंधी विशेष चेतना को कृति कहते हैं।

विषय-संयोग के अलावा, साहसिक क्रियाओं का भी दूसरा कारण संस्कार-जागृति होता है। क्रियासंस्कार-जागृति के बिना कोई प्रत्यक्ष या परोक्ष ज्ञान क्रिया में परिणत नहीं हो सकता। साहसिक क्रिया-प्रेरक संस्कार प्राकृतिक भी हो सकते हैं और अर्जित भी। प्राकृतिक साहसिक क्रिया-संबंधी संस्कार वे ही राजस संस्कार हैं जिन का हम पहले वर्णन कर आए हैं। जब राजस संस्कार प्रवृत्त होते हैं तो उद्वेगात्मक साहसिक क्रियाएं उत्पन्न होती हैं। यदि चाहें तो इन को राजस क्रियाएं भी कह सकते हैं। जब कभी कोई प्राणी क्रुद्ध होता है, या भयग्रस्त होता है, या काम-वश उन्मत्त होता है, तो वह सर्वथा पूर्ण राजस क्रियाएं करता है। वह सोचता-समझता नहीं, क्रिया में संलग्न होने से पहले क्षण भर के लिए ठहरता नहीं। राजस क्रियाएं सब साहसिक होती हैं।

जानवर तथा छोटे बालक सहज क्रियाएं और साहसिक क्रियाएं ही कर सकते हैं। वे जीव-विकास की प्रथम सीढ़ी पर होते हैं। वे प्रत्यक्ष क्रम पर ही काम करते हैं। परंतु प्रौढ़ मनुष्य एक और प्रकार की भी क्रिया कर सकते हैं। वे व्यवसायात्मिक क्रियाएं भी करते हैं। मनुष्य की व्यवसायात्मिक क्रियाएं बड़ी महत्वपूर्ण हैं, और जीववृत्ति-शास्त्र के विद्यार्थी के लिए उन का समझना आवश्यक है।

एक समय में एक ही राजस संस्कार प्रवृत्त हो, यह बात नहीं।

प्रेरणा-संघर्ष

प्रायः मनुष्य-जीवन में एक ही परिस्थिति से कई साहसिक क्रिया-प्रेरक संस्कार प्रवृत्त हो उठते हैं। जब ऐसा होता है तो मनुष्य द्विविधा में पड़ जाता

है। एक साथ प्रवृत्त संस्कारों में परस्पर संघर्ष होने लगता है। तब मनुष्य को विचार करना पड़ता है और सोच-विचार कर एक मार्ग चुनना पड़ता है। मनुष्य दोनों संस्कारों के परिणाम सोचता है। वह मानो अपने आप से कहता है, "यदि इस मार्ग पर चलूं तो यह परिणाम होगा, यदि उस मार्ग पर चलूं तो वह। इस परिणाम की अपेक्षा वह परिणाम अच्छा है।" इस तरह ऊँच-नीच देख कर वह अपने लिए एक मार्ग नियत करता है, और फिर कार्य करता है। ऐसे कार्य को व्यवसायात्मक कार्य कहते हैं। ऐसा कार्य करने से पहले मनुष्य ऐच्छिक सावधान अवस्था में सोच-विचार करता है, विविध युक्तियों पर ध्यान देता है, निर्णय करता है।

जानवरों और छोटे बालकों में न ऐच्छिक अवधान की योग्यता होती है, न सोच-विचार की, न निर्णय की। इस कारण उन में व्यवसाय नहीं होता। यदि किसी जानवर को भूख लगी हो और भोज्य वस्तु उस के सामने हो, और दूसरी ओर उस का स्वामी उसे बुलाता हो, तो वह जानवर या तो खाना शुरू कर देगा या अपने स्वामी के पास चला जाएगा। यह संभव नहीं कि वह कार्य करने से पहले क्षण भर को ठहर जाय और यह सोचने लगे कि उसे इस समय खाना चाहिए या अपने स्वामी के पास जाना चाहिए। दोनों विषयों में से जो उसे अधिक आकर्षित करता है उस की ओर तुरंत जानवर चला जाता है। वह निर्णय द्वारा यह नियत नहीं कर सकता कि अमुक कार्य उस के लिए अधिक लाभदायक होगा, इस लिए उसे वह काम करना उचित है।

मनुष्यों में प्रवृत्त संघर्ष का फ़ैसला स्थायी भावों द्वारा होता है। यदि किसी मनुष्य के सामने यह समस्या हो कि वह भोजन करे या अपने स्वामी के पास जाय, तो इस समस्या की उपपत्ति उस मनुष्य के स्थायी भावों पर निर्भर होगी। यदि उस मनुष्य में स्वामि-सम्मान प्रबल है, तो वह भोजन छोड़ कर स्वामी के निकट आएगा। यदि नहीं, तो पहले भोजन करेगा।

जानवरों और छोटे बच्चों में या तो स्थायी भाव होते ही नहीं, या प्राथमिक रूप में होते हैं। उन में स्वामी का डर हो सकता है, स्वामी के साथ प्रेम हो सकता है, परंतु स्वामी-संबंधी ऐसा कोई संस्कार नहीं हो सकता जिस से उन को यह ज्ञान हो जाय कि तुरंत खाने की अपेक्षा स्वामी की आज्ञा पालन करना श्रेष्ठ कार्य है। इसी कारण वे व्यवसायहीन रहते हैं। प्रवृत्त संस्कारों की तुलना करने और उन में निर्णय करने का ही नाम व्यवसाय है और ऊँच-नीच देखने के पश्चात् ऐच्छिक सावधान अवस्था में जो कार्य किया जाय वही व्यवसायात्मक कार्य कहलाता है।

अध्याय १८

शिक्षण और अभ्यास

शिक्षण

जब जीव उत्पन्न होता है तब वह गिनती के दो चार काम कर सकता है। पैदा होता बच्चा शायद केवल रुदन कर सकता है, और कुछ नहीं। परंतु शीघ्र ही वह हाथ-पाँव चलाने लगता है और मुसकना आरंभ कर देता है। नवजात जानवर, नवजात बालकों की अपेक्षा, ज़्यादा निपुण होते हैं। हंस के बच्चे पैदा होते ही पानी पर तैरने लगते हैं, मुर्ग़ी के बच्चे शुरू से ही ठोंग मारते पैदा होते हैं, नवजात पशु पैदा होते ही अपनी टाँगों पर खड़े हो जाते हैं, और घड़ी दो घड़ी के भीतर चलने-फिरने लगते हैं। मनुष्य को बाल्यावस्था में जितना सीखना पड़ता है और किसी जानवर को नहीं सीखना पड़ता। यही कारण है कि मनुष्य जाति में बाल्यावस्था इतनी लंबी होती है।

मनुष्य बहुत कुछ बालकपन में ही सीखते हैं। जितनी बातें बालक अपनी आयु के पहले तीन वर्ष में सीखता है उतनी शायद पीछे जन्म भर में भी नहीं सीखता। पर यह बात नहीं कि बड़े हो कर हम कुछ सीख ही न सकें। थोड़ा-बहुत मनुष्य हमेशा ही सीखता रहता है। हां आदमी जितना बड़ा होता जाता है, उतना ही वह कम सीखता है।

जीववृत्ति-विज्ञान की दृष्टि से सीखने का अर्थ वे नए संस्कार बनाना है जिन की बदौलत हम ऐसे कार्य कर सकें जो कि हम बिना सीखे नहीं कर सकते। सीखना नए काम करने की योग्यता पैदा करना है, और

यह बहुत प्रकार का होता है। पैदा होते ही जो काम प्राणी कर सकता है वे इस कारण कर सकता है कि उन के उचित ढंग से करने के संस्कार उस में जन्म से ही होते हैं। जिन कामों के करने के संस्कार जीव में शुरू से ही नहीं होते उन के करने के संस्कार उसे अर्जित करने पड़ते हैं।

संबद्ध सहज क्रिया

पहले-पहल जो क्रिया-प्रेरक संस्कार हम में बनते हैं वे जीववृत्ति-संबंध के नियमानुसार बनते हैं। आजकल के कुछ जीववृत्ति-वैज्ञानिकों ने जानवरों पर परीक्षण कर के यह सिद्ध कर दिया है कि और वृत्तियों की भाँति सहज क्रियाएं भी संबद्ध हो जाती हैं। एक रोचक प्रयोग द्वारा यह पता लगा है कि यदि बार-बार किसी कुत्ते को भोजन देने के समय घंटी बजाई जाय तो घंटी का शब्द सुनते ही कुत्ते के मुँह में से लार निकलने लगती है, चाहे भोजन उस के सामने हो या न हो। भोजन करने के समय लार का निकलना एक सहज क्रिया है। क्योंकि इस परीक्षण में घंटी का शब्द सुनना और लार का रिसना एक ही पूर्णानुभव के दो अवयव बना दिए जाते हैं, उन का आपस में संबंध जुड़ जाता है, और जब कुत्ता घंटी का शब्द सुनता है तो उस के मुख से लार रिसने लग जाता है।

घंटी का शब्द सुनने पर लार का रिसना प्राकृतिक सहज क्रिया नहीं, इस के संस्कार जन्म-सिद्ध नहीं। इन संस्कारों द्वारा जीव वह कार्य कर सकता है जो वह पहले नहीं कर सकता था। अतएव संबद्ध सहज क्रिया की उपस्थिति एक प्रकार का शिक्षण ही है। अनुभव से कुत्ता सीख लेता है कि जब घंटी बजे तो भोजन पचाने के लिए लार मुख से निकाले। जानवर प्रायः इसी प्रकार सीखते हैं, और बालक भी शुरू-शुरू में बहुत-सी बातें इसी तरह सीख जाते हैं। संबद्ध सहज क्रिया उपार्जन सीखने का सब से सादा ढंग है।

संबद्ध सहज क्रिया उपार्जन से बढ़ कर किसी काम को बार-बार करने की कोशिश कर के स्वयं सीखना है। हम बालकों को देखते हैं कि वे खड़े होने की चेष्टा करते हैं, परंतु गिर जाते हैं। वे फिर खड़े होने की चेष्टा करते हैं और फिर गिर जाते हैं। अंत में, इस तरह वे खड़े होना सीख जाते हैं। बालक बहुत-सी क्रियाएं इसी ढंग से सीखते हैं। जीववृत्ति-वैज्ञानिकों ने परीक्षण द्वारा मालूम किया है कि जानवर भी सीखने की इस रीति का प्रयोग करते हैं। वे कुछ काम करना चाहते हैं, अकृतकार्य होते हैं, फिर उस काम करने की कोशिश करते हैं, फिर अकृतकार्य होते हैं, परंतु अंत में कोई-कोई काम वे इसी तरह सीख लेते हैं।

बार-बार कोशिश करके सीखना

एक पिंजरे में भोजन रख दिया गया, और एक भूखी बिल्ली को बाहर बिठा दिया गया। यदि बिल्ली एक बटन दबा दे तो पिंजरा खुल जाय और बिल्ली अंदर जा कर भोजन पा ले। देखा गया कि बिल्ली ने शुरू-शुरू में अनिश्चित ढंग से हाथ-पाँव मारे और कई बार वह अकृतकार्य रही, परंतु क्योंकि वह भूखी थी, वह बार-बार पिंजरा खोलने की कोशिश करती रही। भाग्यवशात् एक बार उस का पंजा बटन पर पड़ गया और पिंजरा झट खुल गया। दूसरी बार जब वह बिल्ली फिर भूखी थी और भोजन उसी पिंजरे में बंद था तो उस ने फिर अनिश्चित ढंग से पंजे मारने शुरू किए। परंतु इस दफ़ा वह पहले की अपेक्षा जल्दी बटन दबा कर पिंजरा खोलने में कामयाब हो गई। इस तरह कई दिन कोशिश करने के बाद, उस बिल्ली ने पिंजरा खोलना सीख लिया। अब वह सीधी जाती और बटन दबा कर पिंजरा खोल लेती।

काम करके देखना, नाकामयाब होना, फिर काम करके देखना, सीखने का यह ढंग जीववृत्ति-शास्त्र के एक मौलिक नियम पर निर्भर है। वह नियम यह है कि जिस काम से हमें सुख होता है उस को हम

पुनः-पुनः करते हैं, जिस से हमें दुख होता है उसे छोड़ देते हैं। इसी कारण ये प्रयोग भूखे जानवरों पर किए जाते हैं, कि उन को भोजन मिल जाय तो बहुत सुख हो और न मिले तो बहुत दुख। सुख-दुख के इस नियमानुसार जिस कार्य के करने से जानवर को भोजन प्राप्त होता है उसे वह स्वयं ही दुबारा करता है, और जिस कार्य के करने से वह भूखा रहता है उसे स्वयं ही छोड़ देता है। जानवर बैठ कर यह नहीं सोचता कि यदि यह काम करूँगा तो भोजन मिल जायगा और यदि वह करूँगा तो न मिलेगा। फिर भी सुख-दुख के इस प्रधान नियमानुसार, बिना निर्णय तर्क आदि किए, जानवर भोजन प्राप्त करने का ढंग सीख जाता है।

यह ठीक है कि बहुत कठिन कार्य कोई जानवर इस तरह पर स्वयं ही नहीं सीख सकता। उदाहरणार्थ, दो बटनों को

सूझ

एक साथ दबा कर पिंजरा खोलना जानवर नहीं सीख सकते। फिर भी, जानवर और बालक बहुत से सरल काम इसी रीत से सीखते हैं। वे कोशिश करते हैं, नाकामयाब होते हैं. पर अंत में काम करना सीख लेते हैं।

संबद्ध सहज क्रिया और कोशिश करने, नाकामयाब होने, फिर कोशिश करने की शिक्षण-रीतियां जीव-विकास के नीचे दरजे के कार्य हैं। प्रौढ़ मनुष्य बहुत-सी बातें श्रेष्ठ ढंग से सीखते हैं। यदि उन्हें कोई कठिन कार्य करना न आता हो तो वे सोचते हैं कि यदि अमुक ढंग से काम करें तो शायद कृतकार्य हो जाएं। देर तक इस तरह पर सोचने-विचारने से उन्हें उचित ढंग सूझ जाता है और नया काम करना आ जाता है।

एक पाशव जीववृत्ति-वैज्ञानिक ने बनमानसों पर प्रयोग करके देखा है कि भूखा बनमानस दुष्प्राप्य भोजन को लेने की कोशिश करता है, और नाकामयाब होने पर शांति से बैठ जाता है, जैसे कि कोई कठिन समस्या हल कर रहा हो। फिर वह उठता है और एक नए ढंग से तुरंत भोजन तक पहुँच जाता है।

बनमानस के इस व्यवहार को एक तरह से सूझ कहते हैं। बनमानस को सूझ जाता है कि किस ढंग से भोजन मिल जायगा, पर यह नहीं कह सकते कि जब भूखा बनमानस शांति से बैठा होता है तो वह भोजन प्राप्त करने के विविध साधनों की बाबत सोचता रहता है।

आधुनिक जीववृत्ति-शास्त्र का एक मुख्य सिद्धांत यह है कि जानवर सोच-विचार नहीं कर सकते। वे ऐच्छिक अवधान के असमर्थ होते हैं। वे तर्क-निर्णय आदि नहीं कर सकते। अतएव यदि जानवरों में सूझ होती है तो वह विचारात्मक नहीं होती, प्रत्यक्षात्मक होती है, क्योंकि वे जीव-विकास के नीचे क्रम पर ही रहते हैं। प्रौढ़ मनुष्यों में विचारात्मक सूझ की सामर्थ्य होती है। वे सोच-समझ कर जो काम उन्हें नहीं आता उस के करने का ढंग मालूम कर सकते हैं। उन की सूझ विचारात्मक होती है।

अनुकरण

जीव-विकास के नीचे और ऊँचे दोनों क्रमों पर प्राणी बहुत-कुछ अनुकरण द्वारा सीखते हैं. कभी-कभी जानवर और प्रायः बालक दूसरों को कुछ काम करते देख कर वह काम करना सीख लेते हैं; और हम पहले देख आए हैं कि अनुकरण एक सामान्य प्राकृतिक संस्कार है। सब प्राणियों में जो कुछ वे औरों को करते देखते हैं वही स्वयं करने की प्रवृत्ति होती है। इस तरह जो काम उन्हें नहीं आते वे औरों को करते देख कर सीख लेते हैं। पर जानवर और बच्चे प्रत्यक्ष श्रेणी पर ही अनुकरण करते हैं। वे अनुकरण करने से पहले यह नहीं सोचते कि अमुक प्राणी अमुक कार्य कर रहा है, हमें यह काम नहीं आता, उचित है कि हम भी उस की नक़ल करें और यह काम करना सीख लें। जानवरों और बच्चों का अनुकरण विचारात्मक नहीं होता। बालकों को पता भी नहीं चलता, और वे बहुतेरी बातें अच्छी और बुरी, अनुकरण द्वारा सीख लेते हैं। प्रौढ़ मनुष्य भी इस तरह अज्ञातानुकरण करते हैं, परंतु वे सप्रयासानुकरण भी करते हैं, और बहुत-कुछ अपने शिक्षकों की जान-बूझ कर नक़ल कर करके सीखते हैं।

अध्याय १९

शिक्षण के नियम

शिक्षा-संबंधी जीववृत्ति-वैज्ञानिकों ने विविध परीक्षण कर के बालकों और सयाने मनुष्यों के लिए सुशिक्षण के नियम

पुनरावृत्ति

मालूम किए हैं। यह तो शिक्षक शुरू से ही कहते आए हैं कि पुनरावृत्ति शिक्षण की मूलाधार है। जितनी बार कोई बात दोहराई जाती है उतनी ही ज़्यादा वह याद हो जाती है। हम भी पहले देख आए हैं कि किसी अनुभव के बार-बार होने से उस अनुभव संबंधी-संस्कार प्रबल हो जाते हैं। यह भी हम ने देख लिया है कि सीखना नए संस्कारों का बनाना है। स्पष्ट है कि पुनरावृत्ति से शिक्षण-संस्कार दृढ़ हो जाते हैं और शिक्षण में सहायक होते हैं।

प्रयोगों द्वारा यह पता चला है कि पढ़ कर दोहराने की अपेक्षा बिना देखे दोहराना अधिक उपयोगी होता है। एक परीक्षक ने यह देखा है कि कंठस्थ करने के निमित्त कोई पाठ पढ़-पढ़ कर दोहराया जाय तो उस से आधा याद होता है कि यदि एक दफ़ा पढ़ें तो चार-पाँच दफ़ा बिना पढ़े दोहराएं।

पुनरावृत्ति के कारण जो क्रिया-संस्कार बनते हैं उन्हें अभ्यास कहते हैं, और बार-बार दोहरा कर संस्कार दृढ़ करने के

अभ्यास

कार्य को अभ्यास करना कहते हैं। एक तरह से जो कुछ हम सीखते हैं वह हमारा अभ्यास ही होता है, परंतु कभी-कभी हम बिना अभ्यास किए ही अनुकरण द्वारा या सूझ द्वारा कुछ सीख लेते हैं। अतएव यह कहना ठीक नहीं कि शिक्षण और

अभ्यास एक ही बात है । ठीक यह है कि बहुत से काम हम अभ्यास द्वारा सीखते हैं पर कोई-कोई काम बिना अभ्यास किए भी सीख लेते हैं ।

आदतों के बनने और टूटने के नियम भी जीववृत्ति-विज्ञान के विषय हैं । वास्तव में आदतों के बनने के वही नियम हैं जो संस्कार-निर्माण के हैं । आदतें एक विशेष प्रकार के संस्कार हैं—यानी क्रिया-संस्कार । इन का एक लक्षण यह है कि ये पुनरावृत्ति द्वारा उत्पन्न होती हैं, प्राकृतिक नहीं होतीं, और एक-आध अनुभव से बन सकती हैं । यदि कोई आदत डालनी हो तो अनवरत अभ्यास करना पहली शर्त है । जहां अभ्यास में बाधा पड़ी, आदत के बनने में मुश्किल पैदा हुई । यदि किसी बच्चे में कोई अच्छी आदत डालनी हो तो इस का सब से उत्तम ढंग यही है कि उस से बार-बार वह काम कराया जाय और बीच में कोई बाधा न पड़ने दी जाय । यदि कोई काम प्रतिदिन करने की आदत डालनी हो तो एक दिन की चूक का भी बहुत बुरा असर होता है ।

बुरी आदत को छोड़ना

बुरी आदत का छोड़ना नई आदत डालने से भी ज़्यादा कठिन काम है । आदत हमारा स्वभाव बन जाती है और उसे बदलना बड़ा कठिन कार्य होता है । हां, हम अपने स्वभाव को बदल ही सकते हैं, नष्ट नहीं कर सकते । संस्कार बना, आमृत्यु छूट नहीं सकता । यदि उस को प्रवृत्त होने का कोई अवसर न मिले तो अत्यंत दुर्बल हो जाता है । कभी-कभी बिल्कुल सुपुप्त रहता है । परंतु हम किसी संस्कार का पूर्णतया नाश नहीं कर सकते, केवल उसे बदल सकते हैं, और कभी-कभी इतना बदल देते हैं कि उस में पुराने संस्कार का कोई चिह्न भी नहीं पहचाना जाता । इसी नियमानुसार, राजस संस्कारों को वश में करने के निमित्त, हम उन को मारने की कोशिश नहीं करते, केवल उन के रूप बदल कर स्थायी भाव बनाने की चेष्टा करते हैं । अतएव किसी बुरी आदत को छोड़ने का सब से बड़ा गुर यह है कि उस आदत को बदल कर दूसरी आदत

बना दिया जाय। किसी आदत को छोड़ कर उस का स्थान ख़ाली नहीं रख सकते।

यदि हमें किसी समय एक विशेष काम करने की आदत पड़ गई है, तो हम उस समय किसी दूसरे काम करने की आदत डाल सकते हैं। यदि हम चाहें कि नियत समय पर अभ्यस्त कार्य न करें, ख़ाली बैठे रहें, तो असंभव है। यदि मदिरा-पान करने की आदत पड़ गई है तो बहुत प्रयत्न से मदिरा-पान की बजाय कुछ और पान करने की आदत डाल सकते हैं, या जिस समय और जिन मित्रों के साथ मदिरा-पान करने की आदत है, उस समय और उन मित्रों के साथ कोई और रुचिकर कार्य करने की आदत डाल सकते हैं। उस समय और उन मित्रों के साथ वृथा बैठ कर बात-चीत नहीं कर सकते।

बुरी आदतों के छोड़ने का दूसरा गुर वही है जो अच्छी-अच्छी आदतों के डालने का गुर है—यानी चूकना कभी नहीं चाहिए। चूकना आदत के रोगी के लिए विष के समान है। यदि दस दिन बराबर अभ्यस्त कार्य न किया और फिर एक दिन कर डाला, तो दस दिन की मिहनत नष्ट हो गई। इस प्रकार कभी कोई मनुष्य अपनी बुरी आदतों के छोड़ने में कृतकार्य नहीं हुआ।

कभी-कभी किसी बुरी आदत का एकदम छोड़ देना अच्छा होता है। दृढ़ संकल्प कर के किसी आदत को एकदम बदल देना चूकने की संभावना को मिटा देता है और इस लिए बड़ा उपयोगी है। परंतु किसी-किसी आदत को एकदम बदल देना कठिन होता है और कभी कभी जीव के लिए हानिकारक भी होता है। ऐसी परिस्थिति में शनैः-शनैः आदत को बदल देना अच्छा होता है। एक अफ़ीमची की चतुर स्त्री के बारे में कहते हैं कि वह जिस ईंट के टुकड़े से अफ़ीम तोल कर अपने स्वामी को दिया करती थी उस को प्रति दिन एक बार शिला पर घिस देती थी। ईंट को घिस-घिस कर उस स्त्री ने शनैः-शनैः अफ़ीम की मात्रा इतनी कम कर

दी कि एक दिन न ईंट का टुकड़ा रहा और न अफ़ीमची स्वामी में अफ़ीम खाने की इच्छा।

किसी काम करने का अभ्यास हो जाना और किसी बने अभ्यास को तोड़ देना शिक्षण के ही दो रूप हैं और इन के नियम भी शिक्षण ही के नियम हैं। जब कभी कोई अभ्यास द्वारा कुछ सीखता है इन नियमों का पालन करना आवश्यक होता है।

याद करने की विस्तृत रीति

कंठस्थ करने का एक वैज्ञानिक नियम यह है कि एक दिन ही बैठ कर पूर्णतया कंठस्थ नहीं करना चाहिए। जितने ज़्यादा दिन तक किसी बात को याद करते रहेंगे उतना ही अच्छा याद होगा। आहिस्ता-आहिस्ता जो संस्कार बनते हैं वे ज़्यादा प्रबल होते हैं। शायद उन के प्रबल होने का कारण यह होता है कि आहिस्ता-आहिस्ता नए संस्कारों का पुराने संस्कारों के साथ संबंध जुड़ जाता है और इस तरह नए संस्कारों को जीव की रचना में स्थान मिल जाता है।

प्रयोगों द्वारा भी यह सिद्ध हुआ है कि कंठस्थ करने का विस्तृत ढंग संकुचित ढंग की अपेक्षा उत्तम है। एक विषयी ने तीन दिन में एक निरर्थक शब्द-सूची को याद कर के १८ नंबर पाए,। वैसी ही शब्द-सूची को उस ने चार दिन में याद कर के ३८ नंबर पाए, और वैसी ही एक और शब्द-सूची को बारह दिन में याद कर के ६३ नंबर पाए। तीनों शब्द-सूचियों को उस ने चौबीस बार दोहराया। पहली शब्द-सूची को एक दिन में आठ बार, दूसरी को हर रोज़ छै बार, और तीसरी को प्रति दिन दो दफ़ा।

शिक्षण की संपूर्ण रीति

शायद सीखने का सब से भारी नियम यह है कि जहां तक हो सके, किसी काम को टुकड़े-टुकड़े कर के नहीं सीखना चाहिए, पूरे काम को बार-बार कर के सीखना चाहिए। यदि जिस काम को कोई सीखना चाहता है वह बहुत लंबा है या अत्यंत कठिन है, तो उस के

टुकड़े करने ही पड़ेंगे। पर टुकड़े-टुकड़े कर के सीखने में दुगना काम करना पड़ता है और फिर भी शिक्षण कच्चा रहता है। एक तो विविध भाग अलाहदा-अलाहदा सीखने पड़ते हैं, दूसरे उन भागों को आपस में जोड़ना पड़ता है। यदि कोई कविता एक-एक श्लोक कर के कंठ की जाय तो एक श्लोक याद आने के पश्चात् दूसरे श्लोक के भूल जाने की बहुत संभावना रहती है। यदि श्लोक का पहला शब्द याद आ जाय तो समस्त श्लोक याद आ जायेगा, वरना नहीं। इस कारण विशेषतः यह याद रखना पड़ता है कि किस श्लोक के पश्चात् कौन श्लोक आता है।

परीक्षणों द्वारा भी जीववृत्ति-वैज्ञानिकों ने यही नतीजा निकाला है कि याद करने की संपूर्ण रीति, विभक्त रीति की अपेक्षा, कहीं अच्छी है। एक विषयी ने एक कविता संपूर्ण रीति से दस दिन में ३४८ दफ़ा दोहरा-कर कंठस्थ कर ली। बिल्कुल वैसी ही दूसरी कविता को विभक्त रीति से याद करने में उस विषयी को बारह दिन लगे और ४३१ बार दोहराना पड़ा।

अध्याय २०

अज्ञात चेतना

चेतना-रहित जीववृत्तियों की बाबत हम पहले लिख आए हैं। बहुत सहज क्रियाएं पूर्णतया चेतना-रहित होती हैं।

चेतना-भेद

चेतना तीन प्रकार की होती है—ज्ञान-प्रधानात्मक, भोग-प्रधानात्मक और चेष्टा-प्रधानात्मक। जिस चेतनावृत्ति में जो अंश प्रधान होता है, वह प्रायः उसी नाम से कहलाती है। जिन चेतनाओं में ज्ञान प्रधान होता है उन्हें ज्ञान ही कहते हैं, यद्यपि उन में सुख-दुख का और कृति का कुछ न कुछ अंश अवश्य रहता है। इसी तरह जिन चेतनाओं में सुख-दुख प्रधान होता है उन्हें भोग कहते हैं और जिन में चेष्टा प्रधान होती है उन्हें क्रिया। ज्ञान एक प्रकार की चेतना है। चेतना-रहित वृत्तियां तो अज्ञात होती ही हैं। पर इन के अतिरिक्त ऐसी भी अज्ञात जीववृत्तियां होती हैं जिन में भोग, चेष्टा आदि होते हैं परंतु ज्ञान नहीं होता।

अज्ञात संस्कार

जीववृत्ति-वैज्ञानिकों को प्रायः अज्ञात वृत्ति और अज्ञात संस्कार भेद में भ्रम हो जाता है। कभी-कभी अज्ञात संस्कारों को भी वे अज्ञात वृत्तियां समझ बैठते हैं। संस्कार प्रायः अज्ञात ही रहते हैं। संस्कार स्थायी रूप से प्राणियों में रहते हैं, यद्यपि प्राणियों को हर वक्त यह ज्ञान नहीं रहता है कि हम में अमुक संस्कार स्थित हैं। जब वे संस्कार प्रवृत्त होते हैं, तभी उन को ज्ञान उत्पन्न होता है। जानवरों को और छोटे बच्चों को तो नहीं, परंतु प्रौढ़ मनुष्यों को इस तरह पता लग जाता है कि उन में अमुक संस्कार स्थित हैं। विद्युत् से डरने वाले मनुष्य को पता होता है कि

वह विद्युत् से डरता है। किसी वस्तु के प्रेमी को यह ज्ञात होता है कि वह अमुक वस्तु से प्रेम करता है। संस्कारों का ज्ञान हमें अनुमिति द्वारा होता है। जब कोई संस्कार प्रवृत्त होता है तो हमें उस के प्रवर्तन का अनुभव होता है और अनुमान से हम जान लेते हैं कि जिस समय प्रवर्तन नहीं भी हो रहा होता है उस समय वह भी संस्कार हम में मौजूद है। संस्कार कोई जीववृत्तियां नहीं कि उन का हमें अनुभव हो सके। संस्कारों की बाबत हम अनुमिति द्वारा ही ज्ञान प्राप्त करते हैं।

अज्ञात संस्कारों की महिमा

अतएव कोई-कोई संस्कार हम में ऐसे रहते हैं कि उन की स्थिति का हमें कभी पता नहीं चलता। वे मौक़ा पाकर प्रवृत्त हो उठते हैं और हम से विविध कार्य कराते हैं, परंतु हम आश्चर्य में रहते हैं कि हम ने अमुक कार्य क्यों किए। अपने कार्यों का तो हमें पता चल जाता है, पर उन के प्रेरक संस्कारों का ज्ञान किसी तरह नहीं होता। आधुनिक जीववृत्ति-विज्ञान में ऐसे अज्ञात संस्कारों का बड़ा महत्वपूर्ण स्थान है। विशेषतः हमारी असाधारण जीववृत्तियां प्रायः ऐसे अज्ञात संस्कारों से ही प्रेरित होती हैं। आजकल के असाधारण जीववृत्ति-वैज्ञानिक अज्ञात संस्कारों पर बहुत ज़ोर देते हैं, और समझते हैं कि यदि किसी कारण हमारे कोई प्रबल संस्कार अज्ञात रहें, तो वे हमारे व्यवहार को असाधारण बना देते हैं। तात्पर्य यह है कि संस्कारों का अज्ञात रहने का कोई न कोई कारण होता है, पर अज्ञात रहते हुए भी संस्कार हमारे जीवन में दारुण विघ्न डाल सकते हैं। बहुत से असाधारण जीववृत्ति वैज्ञानिकों का विचार है कि जिन संस्कारों को हम अनिष्ट समझ कर नष्ट करना चाहते हैं, वे अज्ञात हो जाते हैं। हम पहले कह आए हैं कि संस्कारों का नाश कभी नहीं होता, अतएव जिन संस्कारों से हमें घृणा हो जाती है उन्हें हम दमन नहीं कर सकते, पर भूल जाते हैं। हम उन संस्कारों को संतुष्ट नहीं करते, परंतु वे नष्ट भी नहीं होते,

अज्ञात रूप में बने रहते हैं और समय-समय पर तरह-तरह से संतुष्ट होने को प्रवृत्त होते रहते हैं। यदि कोई संस्कार सीधे तौर से संतुष्ट नहीं हो पाता तो वह टेढ़े-मेढ़े मार्ग से संतुष्ट होने को प्रवृत्त हो जाता है।

अज्ञात संस्कार तृप्ति की वक्र गति का नियम तो सीधा ही है। जिस क्रिया से कोई संस्कार संतुष्ट होता हो वह क्रिया यदि असंभव हो, तो संस्कार उस क्रिया-संबंधी किसी दूसरी क्रिया में परिणत हो जाता है, और इस तरह कुछ न कुछ संतोष प्राप्त करता है। यदि किसी संस्कार का विषय अप्रशंसनीय या असामाजिक हो तो वह संस्कार उस विषय से संबद्ध कोई दूसरा विषय ग्रहण कर लेता है। इस तरह मानों उस संस्कार का रूप बदल जाता है और जब वह प्रवृत्त होता है तो हम उसे पहचान नहीं सकते।

प्रतिरुद्ध इच्छाएं

इच्छाएं भी संस्कार रूप में ही जीव में रहती हैं। जब कोई मनुष्य अपनी किसी इच्छा को निकृष्ट समझता है तो वह उसे मारने की कोशिश करता है। नियमानुसार इच्छा मरती तो नहीं, विस्मृत हो जाती है। उस मनुष्य को यह ज्ञान नहीं रहता कि अमुक इच्छा उस में अभी तक बाक़ी है। वह इच्छा अपने असली स्वरूप में तो जागृत हो नहीं सकती। अपने विषय से संबद्ध किसी दूसरे विषय से लग कर, जब मौक़ा पाती है, जागृत हो उठती है। ऐसी इच्छाओं को प्रतिरुद्ध इच्छाएं कहते हैं। ये इच्छाएं अज्ञात इच्छाएं समझी जाती हैं, क्योंकि जब वे प्रवृत्त होती हैं तो हमें यह ज्ञात नहीं रहता कि वे प्रवृत्त हो रही हैं। हम समझते हैं कि कोई और ही इच्छाएं जागृत हो रही हैं। विषय के बदल जाने से हम भ्रम में पड़ जाते हैं।

मान लीजिए कि किसी मनुष्य में किसी तरह अपने मित्र का सफ़ेद घोड़ा चुराने की इच्छा पैदा हो गई। मान लीजिए कि वह मनुष्य चोरी करने को महापाप समझता है, और इस कारण इस इच्छा के उदय होने

से उसे बड़ा दुख होता है और वह इस को दमन करने की कोशिश करता है। मगर यदि इच्छा दर असल प्रबल है तो कदापि उसे उस से मुक्ति नहीं मिल सकती। हां, यदि वह मनुष्य बुद्धिमान है, तो इस इच्छा को स्वयं ही बदल कर किसी दूसरे रूप में तृप्त कर सकता है। वह अपने मित्र के घोड़े जैसा, या उस से भी अच्छा, घोड़ा ख़रीद कर अपनी इच्छा को पूरा कर सकता है। या, यदि वह इतना अमीर नहीं है, तो अपने मित्र के ऊपर विद्या, परोपकार, नेकनामी आदि में विजय प्राप्त कर के अपनी दूषित इच्छा का संतोष दे सकता है।

परंतु यदि वह, मूर्ख की भाँति, उस इच्छा को उन्नत करने की बजाय बिल्कुल नष्ट करने की कोशिश करे, तो वह अवश्य इस इच्छा को भूल जायगा और परिणाम यह होगा कि अज्ञात रूप में रह कर वह इच्छा उसे तंग करेगी। संभव है कि मित्र का घोड़ा सफ़ेद होने के कारण उस में किन्हीं और सफ़ेद वस्तुओं के प्राप्त करने की इच्छा उदय हो जाय। संभव है कि वह कहने लगे कि मैं अमुक मनुष्य से सफ़ेद मोटर लाऊँगा, चाहे उस नाम का कोई मनुष्य न हो और सफ़ेद मोटर उस ने कभी देखी भी न हो। मान लीजिए कि उस आदमी के मित्र का नाम मोहन है, तो संभव है कि उस मनुष्य में वोहन से सफ़ेद मोटर लाने की इच्छा उत्पन्न हो जाय, चाहे वोहन और सफ़ेद मोटर के कारण लोग उसे दीवाना ही क्यों न कहें।

मनोविश्लेषण

बहुत से असाधारण जीववृत्ति-वैज्ञानिक समझने हैं कि सभी मानसिक रोग प्रतिरुद्ध इच्छाओं की वक्रगति से उत्पन्न होते हैं। यदि ठीक-ठीक मनोविश्लेषण किया जाय और रोगी की अज्ञात इच्छाओं का पता लग जाय तो, बिना औषध किए ही, वह रोगी स्वस्थ हो सकता है। केवल इन रोगियों को विश्वास दिलाना चाहिए कि अमुक प्रतिरुद्ध इच्छा उन्हें तंग कर रही है, और उस इच्छा की तृप्ति के सामाजिक और प्रशंसनीय मार्ग पर उन्हें डाल देना चाहिए।

चेतना-रहित जीव-वृत्तियां सभी अज्ञात होती हैं। एक तरह से प्रसुप्त संस्कार भी सभी अज्ञात होते हैं। संस्कार जीव-वृत्तियां नहीं कि ज्ञानात्मक हो सकें, केवल वृत्तियों की संभावनाएं हैं। जब वे जागृत होते हैं तभी जीव-वृत्तियां उदय होती हैं। हां, एक तरह से कोई-कोई संस्कार ज्ञात होते हैं। किसी-किसी संस्कार की स्थिति का हमें अनुमान से पता चल सकता है। जानवरों को और बालकों को यह ज्ञान कभी नहीं होता कि हम में अमुक संस्कार स्थित हैं, चाहे उन के संस्कार कितने प्रबल क्यों न हों।

कभी-कभी ऐसा होता है कि हमें कोई इच्छा होती है, परंतु यह पता नहीं होता कि हम क्या चाहते हैं। इच्छा होती है पर उस का विषय अनिश्चित रहता है। जब प्रतिरुद्ध इच्छाएं उद्भूत होती हैं तो हमें उन के असली विषय का पता नहीं रहता। इच्छा प्रचंड हो उठती है, पर उस का असली विषय अज्ञात रहता है। अनिश्चित और अज्ञात-विषयी इच्छाओं के प्रवर्तन को अज्ञात चेतना कह सकते हैं। यह ऐसी जीव-वृत्तियां होती हैं कि इन में भोग, चेष्टा आदि होती हैं, परंतु विषय-ज्ञान ठीक-ठीक नहीं होता। पर अज्ञात चेतना एक और प्रकार की भी होती है, यानी वह चेतना-वृत्ति जिस के विषय का तो प्राणी को ज्ञान होता है परंतु उस के साथ यह ज्ञान नहीं होता कि मैं अमुक चेतना अनुभव कर रहा हूं। जानवरों और छोटे बालकों की अवस्था सदैव ऐसी रहती है. वे चेतना-विषयों में लीन रहते हैं। उन को यह ज्ञान नहीं होता कि हम अमुक अनुभव कर रहे हैं। एक तरह से उन को विषय-ज्ञान होता है, आत्मज्ञान नहीं होता।

सयाने मनुष्य की भी बहुत सी चेतना-वृत्तियां आत्मज्ञान-रहित होती हैं, परंतु उन में यह सामर्थ्य होती है कि वे चाहें तो अपनी चेतनाओं को अपना ज्ञान-विषय बना लें। जब हमारे ज्ञान-विषय में हमारी चेतनाएं भी शामिल होती हैं, तो वह ज्ञान पूर्णतया ज्ञात चेतना होता है। इस अर्थ में आत्मज्ञान विवर्जित चेतनाएं अज्ञात चेतनाएं होती हैं।

संक्षेप में, 'अज्ञात' शब्द का प्रयोग जीववृत्ति के साथ भी हो सकता है, संस्कार के साथ भी, और चेतना-वृत्ति के साथ भी। शारीरिक सहज क्रियाएं पूर्णतया अज्ञात जीववृत्तियां हैं। प्रसुप्त संस्कार एक तरह से सदैव अज्ञात रहते हैं, पर एक तरह से उन की स्थिति का ज्ञान मनुष्य को हो सकता है। अनुमान से हमें अपने प्रसुप्त संस्कारों का पता चल सकता है। जब संस्कार जागृत हो जाते हैं तो वे जीववृत्तियां बन जाते हैं और ज्ञात भी हो सकते हैं, अज्ञात भी। चेतना-रहित जीववृत्तियां तो अज्ञात होती हैं, पर चेतना-वृत्तियां भी दो प्रकार अज्ञात हो सकती हैं। एक वे जिन में भोग-चेष्टा आदि होती हैं, परंतु विषय-ज्ञान ठीक-ठीक नहीं होता, दूसरी वे जिन में विषय-ज्ञान होता है, परंतु आत्मज्ञान नहीं होता।

अध्याय २१

जीव की अवस्थाएं

हम चेतना-रहित जीववृत्तियों का कुछ वर्णन कर आए हैं। कम से कम शारीरिक सहज क्रियाएं कभी-कभी पूर्णतया चेतना रहित अवश्य होती हैं। परंतु यह ठीक-ठीक पता नहीं कि जीव की पूर्ण अवस्था भी कभी चेतना-रहित होती है या नहीं। प्रायः जब हम चेतना-रहित सहज क्रियाएं करते हैं, तो उन के साथ-साथ कोई न कोई चेतना-वृत्तियां भी उपस्थित रहती हैं, चाहे उन चेतनाओं का उन सहज क्रियाओं से कोई संबंध हो या न हो। इस तरह हमारी अवस्था पूर्णतया चेतना-रहित नहीं होती। यदि कोई चेतना-रहित अवस्था होती है तो वह या तो निःस्वप्न निद्रा होती है या वह मूर्छित अवस्था जिस में हम अचेत पड़े होते हैं। मूर्छित, सुपुप्त और तुर्य अवस्थाओं का ज्ञान हमें इतना कम है कि नहीं के बराबर है। इस कारण इन अवस्थाओं की बाबत हम कुछ लिख नहीं सकते, केवल चैतन्य अवस्थाओं का ही उल्लेख कर सकते हैं।

चेतना-रहित अवस्थाएं

दो प्रकार की चेतनावस्थाओं का हम पहले ज़िक्र कर आए हैं—सावधान और निरवधान। हम कह आए हैं कि सावधान अवस्था जीव की वह अवस्था होती है जिस में कुछ स्पष्ट और कुछ अस्पष्ट दोनों तरह के चेतना विषय एक साथ उपस्थित रहते हैं। निरवधान अवस्था वह होती है, जिस में केवल एक ही प्रकार का कोई विषय एक समय में उपस्थित होता है, चाहे वह स्पष्ट हो या अस्पष्ट।

हम यह भी कह आए हैं कि अवधान दो तरह का होता है—

ऐच्छिक और अनैच्छिक। जिस चेतना को हम ने पिछले अध्याय में असली ज्ञात-चेतना कहा है वह ऐच्छिक सावधान अवस्था में ही संभव होती है। कोई-कोई जीववृत्ति-वैज्ञानिक आत्मज्ञान और ऐच्छिक अवधान में कोई भेद ही नहीं मानते। वे इन दोनों को एक ही समझते हैं। यह ठीक है कि प्रायः जहां ऐच्छिक अवधान होता है वहां आत्म-संबंधी चेतना भी होती है और जहां आत्मज्ञान होता है वहां ऐच्छिक अवधान भी होता है। अनैच्छिक सावधान अवस्था में हम अपने आप को भूले रहते हैं और इसी कारण हमारी क्रियाएं हमारे वश में नहीं रहतीं।

अनैच्छिक सावधान अवस्थाएं

अनैच्छिक सावधान अवस्थाएं भी दो प्रकार की होती हैं — उद्विग्न और शांत। अनैच्छिक सावधान अवस्था बहुत देर तक नहीं रह सकती। या तो वह उद्विग्न हो जाती है या जल्दी ही निरवधान अवस्था में परिणत हो जाती है। जब कोई प्रबल राजस संस्कार अपनी प्राकृतिक दशा में पूर्णतया जागृत हो जाता है तो परिणाम-रूप उद्विग्न अवस्था उत्पन्न हो जाती है। उद्वेगों का हाल हम पहले लिख आए हैं। जिस समय प्राणी कोई उद्वेग अनुभव कर रहा होता है, उस समय उस प्राणी की अवस्था उद्विग्न अवस्था होती है। जिस समय अंतःक्षोभ उत्पन्न हुए बिना कोई प्राणी किसी विषय को अनैच्छिक अवधान देता है, उस समय वह प्राणी शांत अनैच्छिक सावधान अवस्था में होता है।

मान लीजिए कि कोई प्राणी एक प्रखर शब्द सुनता है, और वह शब्द तुरंत उस के चेतना-केंद्र में प्रवेश कर लेता है, परंतु वह प्राणी क्षुब्ध नहीं होता न डरता है, न क्रुद्ध होता है, न कोई और उद्वेग अनुभव करता है। इस क्षण उस प्राणी की शांत अनैच्छिक सावधान अवस्था होती है। पर यह अवस्था बहुत देर तक नहीं रहती। या तो वह प्राणी उस शब्द की बाबत कुछ सोचने लगता है, और ऐच्छिक

सावधान अवस्था में पड़ जाता है, या कोई विशेष बात नहीं सोचता और निरवधान अवस्था प्राप्त कर लेता है।

सावधान और निरवधान अवस्थाएं साधारण जागृत अवस्था के रूप हैं। इन के अतिरिक्त प्राणियों की दो और अवस्थाएं होती हैं—स्वप्न और परवश-निद्रा। स्वप्न देखते समय स्पष्ट और अस्पष्ट दोनों प्रकार की चेतनाएं एक साथ उपस्थित नहीं रहतीं। यही कारण है कि हम स्वप्न में जो कुछ देखते हैं उसे सत्य समझ लेते हैं। यदि स्वप्न चेतनाओं के साथ-साथ और भी चेतनाएं मौजूद रहतीं, तो सोते हुए भी हमें यह पता रहता कि हम कौन हैं, कहां हैं, और क्या कर रहे हैं।

स्वप्न

स्वप्न चेतनाएं साधारण चेतना-वृत्तियां होती हैं। और चेतना वृत्तियों की भाँति, इन के भी दो कारण होते हैं— इंद्रिय-उत्तेजना और संस्कार-जागृति। निद्रा विश्राम की अवस्था है। प्रायः प्राणी तभी सोते हैं, जब वे थक जाते हैं। सोते हुए प्राणी की सब वृत्तियां दुर्बल होती हैं, यहां तक कि शारीरिक सहज क्रियाएं भी हलकी पड़ जाती हैं। सोते हुए प्राणी की ज्ञानेंद्रियां भी प्रबुद्ध नहीं होतीं। वे बंद घर के द्वारों की भाँति होती हैं, और जब तक तीव्र उत्तेजना न हो अपना काम नहीं करतीं। इसी कारण जब हम सोए हुए होते हैं, तो न साधारण रोशनी को देख सकते हैं, न साधारण शब्द सुन सकते हैं, और न कोई वस्तु साधारणतया हमें उपलब्ध हो सकती है।

स्वप्न के कारण

परंतु सोते हुए इंद्रिय-उत्तेजना बिल्कुल न होती हो, यह बात नहीं। सोते हुए प्राणी की इंद्रियां भी प्रतिक्षण तीव्र विषयों से कुछ न कुछ उत्तेजित होती रहती हैं। तेज़ रोशनी, घोर शब्द, वस्त्रों की त्वचा पर रगड़ आदि से आँख, कान, त्वचा आदि उत्तेजित होते रहते हैं। विचित्र बात

यह है कि जब सोते हुए कोई विषय इंद्रिय-सन्निहित होता है, तो यथोचित वस्तु उपलब्धि नहीं होती, बल्कि स्वप्न आरंभ हो जाता है।

हम यह पहले देख आए हैं कि वस्तु-उपलब्धि केवल इंद्रिय-उत्तेजना से नहीं होती। जिस समय जागृत अवस्था में कोई विषय इंद्रिय-सन्निहित होता है, हमारे बहुत से संस्कार अपूर्णतया प्रवृत्त हो उठते हैं। इन के अलावा, जागृत अवस्था में पहले ही बहुत से संस्कार अपूर्णतया प्रवृत्त रहते हैं। जब प्राणी सो जाता है, तो यह संस्कार भी जागृत नहीं रहते। परिणाम यह होता है कि विषय-सन्निहित होते हुए भी यथोचित वस्तु उपलब्धि नहीं होती।

स्वप्न-गति

जागृत अवस्था की संस्कार-प्रवृत्तियों के अभाव में, हमें सोते हुए यह पता नहीं रहता कि हम कहां हैं, और किस अवस्था में हैं। इस विस्मृति का नतीजा यह होता है कि उस वस्तु के अभाव में भी, यदि सोते हुए हमें किसी तरह किसी वस्तु का ध्यान आ जाय, तो हम समझने लगते हैं कि वह वस्तु हमारे सामने है। वृत्ति-संबंध का नियम सोते हुए प्राणी में भी अपना काम करता है। सोते हुए प्राणी को इंद्रिय-उत्तेजना से सन्निकर्ष विषय का प्रत्यक्ष ज्ञान नहीं होता, मगर वृत्ति-संबंध नियम के अनुसार किसी न किसी संबद्ध वस्तु का ध्यान आ जाता है। उस वस्तु के ध्यान से किसी और संबद्ध वस्तु का ध्यान आ जाता है, उस से किसी और वस्तु का, और स्वप्न इसी तरह चलता रहता है।

मान लीजिए कि किसी मनुष्य के कान पर सोते-सोते अर्ध रात्रि को तोप की आवाज़ पड़ी। यदि वह मनुष्य दर असल सो रहा है तो उसे तोप की वस्तु-उपलब्धि नहीं होगी। वह जागृत होने पर यही कहेगा कि मैंने तोप नहीं सुनी। परंतु संभव है कि तोप के शब्द से उस मनुष्य में कोई स्वप्न आरंभ हो जाय। संभव है कि उस मनुष्य को स्वप्न में बारात जाती हुई दीख पड़े, या युद्ध होता दिखाई दे, या वर्षा होती नज़र

आए । तोप की आवाज़ से बारात का, युद्ध का, या वर्षा का ध्यान आ सकता है, क्योंकि इन सब विषयों के शब्द तोप के शब्द से कुछ-कुछ मिलते-जुलते हैं ।

जागृत अवस्था में जो संस्कार प्रवृत्त हो कर मनुष्य को तोप का प्रत्यक्ष ज्ञान करा देते हैं वे प्रसुप्त अवस्था में प्रवृत्त नहीं होते । कभी-कभी उन की बजाय कोई और संस्कार मौक़ा पा कर प्रवृत्त हो उठते हैं । यदि बारात-संबंधी संस्कार प्रवृत्त हो गए तो बारात का स्वप्न दीखने लगता है । यदि युद्ध-संबंधी संस्कार प्रवृत्त हो गए तो युद्ध का, और यदि बादल संबंधी तो बादल का । प्रायः दिन में जिन घटनाओं का अनुभव प्राणी को होता है उन से बने संस्कार ही सोते समय यथावसर प्रवृत्त हो जाते हैं । इसी कारण हमें रात्रि को दिन की घटनाओं के स्वप्न आते हैं । मगर बहुत से स्वप्न ऐसे होते हैं कि जिन का उस दिन की या पहले कई दिनों की घटनाओं से कुछ संबंध नहीं होता । स्पष्ट है कि कोई न कोई दृढ़ संस्कार इन स्वप्नों को प्रेरित करते हैं । ये संस्कार वे होते हैं जिन को जागृत अवस्था में तृप्ति का अवसर नहीं मिलता । हमारे बहुत से स्वप्न हमारी प्रतिरुद्ध इच्छाओं के कारण उदय होते हैं । जो इच्छाएं जागृत अवस्था में पूरी नहीं हो सकतीं वे स्वप्न में पूरी होने की चेष्टा करती हैं, और प्रायः कुछ न कुछ पूर्ण हो भी जाती हैं । फिर वे हमें इतना ज़्यादा तंग नहीं करतीं । यदि किसी को जागृत अवस्था में घोड़ा नसीब नहीं हुआ तो वह घोड़े पर चलने का स्वप्न देख कर अपनी तीव्र इच्छा कुछ न कुछ पूरी कर लेता है । आधुनिक असाधारण जीववृत्ति-वैज्ञानिक इसी सिद्धांत के अनुसार रोगी और पागल मनुष्यों के मनोविश्लेषण में उन के स्वप्नों से बड़ी सहायता लेते हैं । वे स्वप्नों का निरीक्षण करके यह मालूम करने की कोशिश करते हैं कि रोगी की कौन सी प्रतिरुद्ध इच्छाएं उस के जीवन को असाधारण बना रही हैं ।

किसी-किसी इच्छा का हम इतना ज़्यादा प्रतिरोध करते हैं कि उसे

हम अपने स्वप्न में भी पूरी नहीं होने देते। जो मनुष्य अपने मित्र का घोड़ा चुराने को घोर पाप समझता है, वह स्वप्न में भी मित्र के घोड़े को प्राप्त नहीं कर सकता। परंतु वह स्वप्न में अपने मित्र के समान किसी मनुष्य की मोटर ले सकता है। जीववृत्ति-वैज्ञानिक नियमों के अनुसार इस स्वप्न से भी उस मनुष्य की पापमय इच्छा थोड़ी बहुत पूर्ण हो जाती है और उसे पागल या रोगी नहीं बनना पड़ता।

स्वप्न के लाभ

इस तरह पर स्वप्न जीव के लिए बड़े उपयोगी हैं। जीव विश्राम करने को सोता है। विश्राम करते हुए इंद्रिय-उत्तेजना होती है, पर यदि इस इंद्रिय-उत्तेजना से साधारण प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाय तो प्राणी अवश्य जाग जाय और विश्राम में विघ्न पड़ जाय। स्वप्न की बदौलत जीव सोता भी रहता है और इंद्रिय-उत्तेजना का भुगतान भी करता रहता है। स्वप्न का दूसरा फ़ायदा यह है कि जो इच्छाएं जागृत अवस्था में पूरी नहीं हो सकतीं वे स्वप्न में न्यूनाधिक पूरी हो जाती हैं। प्रतिरुद्ध इच्छाएं मनुष्य को रोगग्रस्त तभी करती हैं, जब स्वप्न में भी उन्हें तृप्ति का मौक़ा नहीं मिलता।

परवश-निद्रा

मनुष्य की एक ही अवस्था का हम ने अभी तक वर्णन नहीं किया है। वह परवश-निद्रा है। परवश-निद्रा में भी, स्वप्न की भाँति, एक ही प्रकार की चेतना उपस्थित रहती है। स्पष्ट और अस्पष्ट, दोनों प्रकार के विषय एक साथ हमारे सामने नहीं रहते। इस कारण परवश-निद्रा भी, स्वप्न की भाँति, विस्मृति की अवस्था है। परवश-निद्रा में भी हम भूल जाते हैं कि हम कहां हैं, कौन हैं, और क्या कर रहे हैं। परवश-निद्रा में केवल चेतना केंद्र उपस्थित रहता है, चेतना-प्रांत नहीं। हमारी चेतना किसी दूसरे मनुष्य पर केंद्रित हो जाती है।

वशीकरण

परवश-निद्रा के लिए ज़रूरी है कि एक मनुष्य दूसरे को अपने वश में करे। वश में करने वाला मनुष्य यह कोशिश करता है कि वह ख़ुद दूसरे मनुष्य की चेतना का एकमात्र केंद्रवर्ती विषय बन जाय और उस मनुष्य का ध्यान दुनिया भर की और सब बातों से हट जाय—उस मनुष्य की चेतना का कोई प्रांतवर्ती विषय ही न रहे। वशी प्रायः निपुण व्यक्ति होते हैं। वे वश्य का अवधान अपनी ओर खींचने का ढंग जानते हैं। वश्य को निरवधान पाकर वे कुछ ऐसा कार्य करते हैं कि वश्य का ध्यान उन की ओर खिंच आए और फिर वश्य का ध्यान अपनी तरफ़ जमाए रखते हैं। यदि वे इस में कृतकार्य हो जाएं तो, संकेतों द्वारा. वश्य से जो कुछ चाहें करा लें, और जो कुछ चाहें कहला लें। यदि किसी मनुष्य की चेतना किसी दूसरे मनुष्य पर केंद्रित हो जाय, तो वह उस दूसरे मनुष्य के अधीन हो जाता है। उसे अपनी कुछ सुध-बुध नहीं रहती, क्योंकि उस की चेतना के कोई प्रांतवर्ती विषय ही नहीं रहते, कि उसे केंद्रवर्ती विषय के अलावा किसी बात का ध्यान रहे। जो कुछ चेतनाकेंद्र विषयी मनुष्य कहता है वही वश्य करता है, और जो कुछ वशी वश्य की चेतना में बिठा देता है वही वश्य अनुभव करता है। यदि वशी कहे कि वश्य पशु है तो वश्य अपने आप को पशु समझने लगता है, और पशुओं के ऐसा व्यवहार करने लगता है। यदि वशी चाहे कि वश्य अपने सिर के बल खड़ा हो जाय तो वश्य अपने सिर के बल खड़ा हो जाता है।

यदि वशी, सूक्ष्म संकेतों द्वारा, वश्य को बता दे कि अमुक वस्तु अमुक स्थान से लानी है तो वश्य ठीक वहीं जा कर वह वस्तु ले आता है। यदि वशी चाहे कि अमुक बात वश्य सब के सामने कह दे तो वश्य वही बात कह देता है। सारांश यह कि परवश-निद्रा में मनुष्य पूर्णतया वशकर्ता के अधीन होता है, क्योंकि किसी न किसी ढंग से वशकर्ता वश्य का ध्यान अपनी ओर खींच लेता है, और वश्य के चेतना-चक्र में

और कोई विषय आने नहीं देता, कि वशी के अतिरिक्त उसे कुछ और ज्ञात हो जाय। इसी अर्थ में परवश-निद्रा विस्मृति की अवस्था है। इस अवस्था में मनुष्य पूर्णतया एकाग्रचित्त होता है। परवश-निद्रा चित्त-वृत्तियों के किसी दूसरे मनुष्य के गिर्द संकेंद्रण का नाम है।

संक्षेप में, अचेत, सुषुप्त और तुर्य अवस्थाओं के अतिरिक्त, जीव की पाँच और अवस्थाएं होती हैं—तीन सावधान अवस्थाएं, एक निरवधान अवस्था, और एक अति संकेंद्रित अवस्था। तीन सावधान अवस्थाओं में एक ऐच्छिक अवधान की अवस्था होती है, जिस में हम तर्क, विमर्श के पश्चात् विचारात्मक क्रियाएं करते हैं; और दो अवस्थाएं अनैच्छिक अवधान की हैं—एक उद्विग्न और दूसरी शांत। स्वप्न अवस्था निरवधान अवस्था है। कभी-कभी जागते हुए भी हमारी स्वप्न जैसी अवस्था हो जाती है। उस समय भी हमें अपनी परिस्थिति का कुछ ज्ञान नहीं रहता और, स्वप्न की भाँति, विचार के पीछे विचार आते रहते हैं। परवश-निद्रा अति संकेंद्रित अवस्था है।

———

अध्याय २२

सामर्थ्य

व्यक्ति-भेद

जब से पश्चिम में जीववृत्ति-विज्ञान का सुव्यवस्थित प्रयोग होने लगा है, मनुष्य की योग्यताओं के निरूपण का महत्त्व बहुत बढ़ गया है। जीववृत्ति-ज्ञान से जो सब से बड़ा लाभ लोगों ने उठाया है वह यह है कि उन्हें पता लग गया है कि मानव सामर्थ्यों में व्यक्ति-भेद होता है। कोई मनुष्य किसी काम के योग्य होता है और कोई किसी के। आज कल पश्चिम में कोई काम किसी के सुपुर्द करने से पहले वैज्ञानिक रीति से यह देख लिया जाता है कि वह मनुष्य उस काम करने के योग्य है या नहीं। इस कारण जीववृत्ति-विज्ञानवेत्ताओं ने विविध योग्यताओं की ठीक-ठीक परीक्षा करने के लिए बहुत से ढंग निकाले हैं और यह मालूम किया है कि किस-किस योग्यता में मनुष्यों में कितना-कितना व्यक्ति-भेद है।

एक तरह से तो अनेक मानुषी सामर्थ्य हैं। जितने काम हम करते हैं उन सब की योग्यता हम में होती है। हम में बोलने की सामर्थ्य है, लिखने की सामर्थ्य है, पढ़ने की सामर्थ्य है, समझने की सामर्थ्य है, इत्यादि। यदि यह सब योग्यताएं असंबद्ध और स्वतंत्र होतीं तो जीववृत्ति-वैज्ञानिकों का काम अत्यंत कठिन होता। भाग्यवशात् हमारी योग्यताएं एक-दूसरी से सम्मिलित रहती हैं, और यदि किसी मनुष्य की मुख्य योग्यताओं की परीक्षा कर ली जाय तो वह मनुष्य किस काम के योग्य है, और किस के नहीं, इस बात का पता लग जाता है।

आधुनिक जीववृत्ति-वैज्ञानिकों ने जिन योग्यताओं को आधार-मूल मान कर उन के मापन की वैज्ञानिक रीतियां निकाली हैं वे निम्न-लिखित हैं:—

गुण-कल्पना-शक्ति, अप्रसक्ति, गणना-संबंधी सामर्थ्य, यांत्रिक योग्यता, संगीत-संबंधी सामर्थ्य, बुद्धि ।

गुण-कल्पना

किसी-किसी मनुष्य में गुण-कल्पना की योग्यता बहुत होती है, किसी-किसी में कम। जिन लोगों में कल्पना-शक्ति अधिक होती है वे चित्र-कल्पना, शब्द-कल्पना और स्पर्श-कल्पना तीनों के समर्थ होते हैं। यदि वे कोई वस्तु देख लें, या उस का शब्द सुन लें, या उस को स्पर्श कर लें, तो वे जब चाहें उस का आसानी से, जिस तरह की कल्पना द्वारा चाहें, प्रत्यक्षानुकरण कर सकते हैं। ऐसे मनुष्य प्रायः चित्रकार, संगीतज्ञ, लेखक अथवा नवकाल्पनिक होते हैं।

गुण-कल्पना परीक्षण का लाभ

साधारणतया तो जिन मनुष्यों में एक प्रकार की गुण-कल्पना तीव्र होती है उन में सब प्रकार की गुण-कल्पना तीव्र होती है। परंतु कोई-कोई व्यक्ति ऐसे भी होते हैं जिन में केवल एक तरह की गुण-कल्पना-शक्ति अधिक होती है। कोई-कोई मनुष्य चित्र-कल्पना में श्रेष्ठ होते हैं, कोई शब्द-कल्पना में, और कोई स्पर्श-कल्पना में। तीनों तरह की कल्पना-शक्ति की मापन की परीक्षाएं शास्त्रवेत्ताओं ने निर्माण की हैं। इन परीक्षाओं द्वारा मनुष्य की कल्पना-शक्तियों का परीक्षण करने के बाद यह निश्चित किया जाता है कि वह मनुष्य जिस काम में इन योग्यताओं की ज़रूरत होती है वह काम कर सकता है या नहीं। यदि कोई मनुष्य चित्रकल्पना के समर्थ नहीं होता तो उसे चित्र बनाने का काम नहीं दिया जाता। यदि किसी मनुष्य में शब्द-कल्पना शक्ति नहीं होती तो उसे

सम्मति दी जाती है कि वह संगीत-विद्या सीखने में अपना समय नष्ट न करे, इत्यादि।

बहुत से प्रयोगों द्वारा यह पता चला है कि किसी-किसी मनुष्य में यह सामर्थ्य होती है कि वह एक प्रकार का काम करते-करते झट दूसरे प्रकार का काम सुलभता से करना आरंभ कर देता है। सब मनुष्य ऐसा नहीं कर सकते। यदि हम कुछ देर तक एक ही तरह का काम करते रहें, तो तुरंत उस के विपरीत कोई काम शुरू करना कठिन होता है। यदि किसी से कहा जाय कि कुछ देर तक अकार बनाए जाओ और फिर उस मनुष्य से यह कहा जाय कि झट अकार उल्टे बनाने शुरू कर दो, तो वह तुरंत उल्टे अकार इतनी जल्दी-जल्दी नहीं बना सकता, जितनी जल्दी सीधे अकार बना रहा था। कोई-कोई मनुष्य ऐसे होते हैं कि उन में अप्रसक्ति की मात्रा अधिक होती है और वे तुरंत ही उल्टा काम बहुत जल्दी-जल्दी करने लगते हैं।

अप्रसक्ति

अप्रसक्ति-युक्त मनुष्यों में एक प्रकार की चालाकी आ जाती है। उन के विचार भी जल्दी-जल्दी एक विषय से दूसरे विषय पर पहुँच जाते हैं और उन के कार्य भी जल्दी-जल्दी बदल सकते हैं। यदि अकस्मात् कोई नई परिस्थिति उपस्थित हो जावे तो वे मनुष्य घबराते नहीं, तुरंत नई परिस्थिति के अनुकूल कार्य करना शुरू कर देते हैं। ऐसे व्यक्ति वाक्-चतुर होते हैं। हर एक बात का कुछ न कुछ जवाब उन्हें बिना सोचे याद आ जाता है। इस कारण वे कभी मूढ़ से नहीं दिखाई देते।

अप्रसक्ति से एक प्रकार का परिहास-भाव भी उत्पन्न हो जाता है। यह असली हास्य-भाव नहीं होता – एक प्रकार की वाक्-चतुरता ही होती है। अप्रसक्ति के कारण शब्द-श्लेष की योग्यता बढ़ जाती है और परिहास-भाव का रूप धारण कर लेती है। जो जीववृत्ति-शास्त्र के पंडित नहीं वे भ्रम से अप्रसक्ति-कृत चातुर्य को भी बुद्धि समझ लेते हैं।

वास्तव में बुद्धि कुछ और है अप्रसक्ति कुछ और। बुद्धि का हाल हम आगे चल कर लिखेंगे।

विशेष योग्यताएं

जीववृत्ति-वैज्ञानिकों ने यह भी पता चलाया है कि गणना, यंत्र, और संगीत-संबंधी विशेष योग्यताएं होती हैं। बहुत दिन तक अभ्यास करके कोई गणना-यंत्र या संगीत पर अधिकार प्राप्त कर ले, यह और बात है। परंतु इन विषय-संबंधी जन्मसिद्ध सामर्थ्य किसी-किसी में ही होते हैं। कोई-कोई मनुष्य जन्म से ही गणना में चतुर होते हैं। वे बहुत जल्दी गणना के तरीक़े सीख जाते हैं और बिना काग़ज़ पेन्सिल के आन की आन में गणित के ख़ासे मुश्किल सवाल निकाल देते हैं। कोई-कोई मनुष्य शुरू से ही यंत्रकल्पना में चतुर होते हैं। वे जल्दी ही यंत्रविद्या सीख जाते हैं और अच्छे यंत्रकार बन जाते हैं। संगीत का भी यही हाल है। आपने बालक गाने बजाने वाले बहुत देखे होंगे। उन में जन्म से ही गाने-बजाने की योग्यता होती है। वे शुरू से ही ताल-स्वर के भेद पहचानने लगते हैं और इतनी जल्दी गाना-बजाना सीख लेते हैं कि औरों को आश्चर्य होता है।

जिन योग्यताओं का हम ने अभी तक उल्लेख किया है वे सब विशेष रूप योग्यताएं हैं। ऐसी एक योग्यता के होने से एक ही तरह का काम योग्य मनुष्य अच्छी तरह से कर सकता है। एक सामर्थ्य रखने वाला मनुष्य और सब सामर्थ्यों का भी स्वामी हो, यह बात नहीं। यदि किसी में गुण कल्पना शक्ति है तो यह जरूरी नहीं कि उस में अप्रसक्ति, गणित-योग्यता, संगीत-योग्यता आदि सामर्थ्य भी हों। बल्कि प्रायः यह देखा गया है कि जो मनुष्य एक काम में अच्छे होते हैं वे दूसरे कामों में मट्ठे होते हैं। जो मनुष्य गणित में अच्छे होते हैं वे प्रायः संगीतकला-रहित होते हैं और जो यंत्रविद्या में आगे होते हैं उन में प्रायः अप्रसक्ति कम होती है, इत्यादि।

बुद्धि एक ऐसी योग्यता है कि जिस पर अधिकार होने से मनुष्य सब प्रकार के काम अच्छी तरह कर सकता है। कोई

बुद्धि

काम क्यों न हो, यदि बिना सीखे एक बुद्धिमान् और एक मूर्ख दोनों उसी काम को करने बैठें, तो बुद्धिमान् अवश्य मूर्ख की अपेक्षा उस काम को भली भाँति करेगा। सीखने में भी बुद्धिमान् को ही सुभीता रहेगा। सीखना भी एक कार्य ही है और नियमानुसार बुद्धिमान् मनुष्य मूर्ख मनुष्य की अपेक्षा जल्दी और ज़्यादा आसानी से सीख सकता है। यदि इन विशेष प्राकृतिक सामर्थ्यों में दो मनुष्य बराबर हों, और वे दोनों गणित या संगीत सीखना आरंभ करें, तो उन में से जो ज़्यादा बुद्धिमान होगा वह ज़्यादा सीखेगा और जो कम बुद्धिवाला होगा वह कम। इसी कारण किसी-किसी जीववृत्ति-वैज्ञानिक ने बुद्धि की परिभाषा ही यह कह कर की है कि बुद्धि शिक्षण-शक्ति का नाम है।

दर्शनों में बुद्धि शब्द का प्रयोग विविध अर्थों में किया गया है। सांख्य और योगदर्शनों में बुद्धि चेतना-रहित बताई गई है,

सामान्य योग्यता

और इस को सब प्रकार के संस्कारों का स्थान माना है। न्याय के अनुसार बुद्धि और चित्त में कुछ भेद ही नहीं। वैशेषिक समझते थे कि बुद्धि प्रत्ययों का भंडार है। शंकराचार्य का मत है कि बुद्धि अंतःकरण की निःसंदेह ज्ञान प्राप्त करने की शक्ति है। कुछ हो, बुद्धि एक प्रकार की शक्ति अवश्य है। जीव की एक योग्यता का नाम बुद्धि है। पर यह कोई विशेष योग्यता नहीं। न यह केवल सीखने की योग्यता है, न केवल समझने की, न केवल संशय-रहित ज्ञान प्राप्त करने की। जिस अर्थ में हम ने इस पुस्तक में बुद्धि शब्द का प्रयोग किया है वह सामान्य योग्यता है। सब प्रकार के काम करने की योग्यता का नाम बुद्धि है। तात्पर्य यह नहीं कि बुद्धिमान् आदमी सब काम बिना सीखे ही कर सकता है। मतलब सिर्फ़ यह है कि बुद्धिमान् आदमी यदि विशेष योग्यताओं में मूर्ख के बराबर हो, तो मूर्ख

की अपेक्षा सब काम भली भाँति कर सकता है। निरपेक्ष रूप में बुद्धि शब्द की परिभाषा भले हो असंभव हो, परंतु अपेक्षतया यह नियत करना आसान है कि कौन ज़्यादा बुद्धि वाला है, कौन कम बुद्धि वाला।

यह संभव है कि यदि किसी मूर्ख में कोई विशेष योग्यता जन्म से ही हो या उस ने कोई विशेष कार्य मिहनत करके सीखा हो, तो वह काम वह मनुष्य बुद्धिवाले मनुष्य की अपेक्षा अच्छी तरह कर सके। बिना प्राकृतिक सामर्थ्य और सप्रयास शिक्षण के बुद्धिमान मनुष्य भी ऐसे मूर्ख का मुक़ाबला नहीं कर सकता। हां, यदि विशेष प्राकृतिक सामर्थ्य और शिक्षण में मूर्ख और बुद्धिमान दोनों बराबर हों, तो अवश्य बुद्धि-वाले मनुष्य का काम बुद्धिहीन मनुष्य के काम से श्रेष्ठ और उत्तम होगा। चाहे यह कहना असंभव हो कि बुद्धि क्या है और बुद्धिमान कौन है, इस में संदेह नहीं कि बहुत से मनुष्यों में से हम हमेशा यह बता सकते हैं कि कौन सब से ज़्यादा बुद्धिमान है, कौन सब से कम, और किस का स्थान बुद्धि-सोपान पद्धति में कहां है।

सारांश यह कि अपेक्षतया हम बता सकते हैं कि कौन किस से ज़्यादा बुद्धिमान है और कौन किस से ज़्यादा मूर्ख।

बुद्धिमापन — मनुष्यों को इस प्रकार दर्जा ब दर्जा स्थान देने के निमित्त आधुनिक जीववृत्ति-वैज्ञानिकों ने बुद्धिमापन के बहुत से वैज्ञानिक ढंग निकाले हैं। पश्चिम में बुद्धिमापन का बहुत प्रयोग किया जाता है। वैज्ञानिक ढंग से बुद्धि परीक्षा कर के ही आज कल यह मालूम किया जाता है कि अपेक्षतया कौन मनुष्य कितनी बुद्धि वाला है। बुद्धिमापन का कुछ और हाल हम आगे चल कर भी लिखेंगे। इस जगह यही बताना काफ़ी है कि बुद्धि सामान्य योग्यता का नाम है। सब प्रकार के काम करने की सामर्थ्य को बुद्धि कहते हैं।

अध्याय २३

व्यक्ति-भेद और व्यक्तित्व

यह पंडितों को पहले भी पता था कि आदमी-आदमी में अंतर होता है। किसी की प्रकृति कैसी होती है और किसी की कैसी। परंतु आज कल के जीववृत्ति-वैज्ञानिक व्यक्ति-भेद पर बहुत बल देते हैं। तरह तरह के वैज्ञानिक ढंग व्यक्तिभेद मालूम करने के लिये बन गए हैं। हर एक आदमी का व्यक्तित्व उस व्यक्ति की सब विशेषताओं से मिल कर बनता है। हर एक मनुष्य विविध प्रकार और मनुष्यों से भिन्न होता है। यह सब विभिन्नताएं ही उस के व्यक्तित्व का निर्माण करती हैं।

मज्जासंस्थान-भेद

जिन व्यक्तिभेदों पर सब से पहले दृष्टि पड़ती है वे शारीरिक भेद हैं। कोई मनुष्य छोटा होता है कोई बड़ा, कोई मोटा होता है कोई पतला, कोई हृष्ट-पुष्ट होता है कोई निर्बल। इन सब विशेषताओं का असर व्यक्तित्व पर पड़ता है। छोटे, दुबले आदमी की अपेक्षा लंबे हृष्ट-पुष्ट आदमी से लोग ज़्यादा डरते हैं और इस से मनुष्य में गर्व उत्पन्न होता है। परंतु शरीर की रचना में अस्थियों और पेशियों का इतना ज़्यादा महत्त्व नहीं जितना मज्जासंस्थान और ग्रंथियों का है। शायद बुद्धिभेद मस्तिष्क-भेद पर ही निर्भर है। संभव है कि बुद्धिमान् मनुष्य के मस्तिष्क की रचना विमूढ़ के मस्तिष्क की अपेक्षा ज़्यादा कोमल और विषम होती हो। चाहे कुछ हो, जिस मनुष्य का मस्तिष्क अच्छा होता है वह मनुष्य भली प्रकार सोच-समझ सकता है और बहुत कुछ सीख सकता है। जिस का मस्तिष्क ख़राब होता है वह मूर्ख का मूर्ख ही रहता है।

प्रणालिका-रहित ग्रंथों का ज़िक्र हम पहले कर आए हैं। ये ग्रंथियां अपना रस जहां का तहां रुधिर धारा में मिला देती हैं। रुधिर सारे शरीर में भ्रमण करता है और इन ग्रंथियों का असर मज्जा-संस्थान के प्रत्येक भाग तक और शरीर की प्रत्येक पेशी और प्रत्येक अस्थि तक पहुँचाता है। हम यह देख चुके हैं कि एक अप्रणाल-ग्रंथिरस की बहुतायत से मनुष्य बढ़ता ही जाता है और उस की कमी से बौना रह जाता है। इसी तरह हर एक ग्रंथि-रस का प्रभाव शरीर पर पड़ता है और इसी लिए ग्रंथिक्रिया-भेद व्यक्तिभेद का प्रधान कारण है। जैसी किसी मनुष्य की ग्रंथियों की क्रिया होती है वैसा ही वह व्यक्ति होता है।

ग्रंथि-भेद

ग्रंथि-क्रियाओं की बाबत एक विचित्र बात यह है कि उन का असर केवल शरीर-रचना पर ही नहीं पड़ता, बल्कि चेतना-वृत्तियों पर भी पड़ता है। यदि किसी विशेष ग्रंथि का रस कम हो जाय या उचित मात्रा से बढ़ जाय, तो जीव की किसी न किसी चेतना-वृत्ति में भेद पड़ जाता है। उदाहरणार्थ लिंग-संबंधी ग्रंथियों के क्रियाओं के कारण काम-प्रवृत्ति होती है। यदि ये ग्रंथियां अपना काम करना बंद कर दें तो राजस संस्कार प्रवृत्त ही न हों, और इस की परिणाम-रूप चेतना-वृत्तियां भी उपस्थित न हों।

इस छोटी पुस्तक में किन-किन ग्रंथियों का चेतना-वृत्तियों पर क्या क्या असर पड़ता है, यह सब हाल नहीं लिखा जा सकता। केवल यही बताया जा सकता है कि ग्रंथिक्रियाभेद के कारण चेतनावृत्ति-भेद प्रकट होते हैं। जीववृत्ति-वैज्ञानिकों का मत है कि अप्रसक्ति और चातुर्य भी ग्रंथिरस विशेषता के ही परिणाम हैं। जिसे हम साधारणतया स्वभाव कहते हैं वह हमारी ग्रंथि-क्रियाओं का ही परिणाम है। विविध ग्रंथि-क्रियाओं की बदौलत कोई मनुष्य शील-स्वभाव का होता है कोई तेज़, कोई सुस्त होता है, कोई चालाक, कोई प्रकृति से ही प्रसन्न-चित्त होता है, कोई उदास, इत्यादि।

राजस संस्कार-भेद

शारीरिक भेद के अलावा, मनुष्यों के राजस संस्कार-भेद होते हैं, सामर्थ्य-भेद होते हैं, और चरित्र-भेद होता है। ये सब विशेषताएं व्यक्ति-निर्माण में हिस्सा लेती हैं। किसी मनुष्य में कोई राजस संस्कार तीव्र होता है, किसी में कोई। कोई मनुष्य क्रोधी होता है, कोई भीरु। किसी मनुष्य में कुतूहल प्रधान होता है, किसी में संचय, इत्यादि। जैसे-जैसे जिस मनुष्य के राजस संस्कार होते हैं वैसा ही वह व्यक्ति होता है।

सामर्थ्य-भेद

विविध योग्यताओं में एक मनुष्य दूसरे से भिन्न होता है, यह हम पहले ही देख आए हैं। किसी में गुण-कल्पना ज़्यादा होती है, किसी में कम। किसी में गणना-संबंधी योग्यता होती है, किसी में यंत्र-संबंधी, किसी में संगीत-संबंधी। इन सब से बढ़ कर बुद्धिभेद है। किसी में बुद्धि ज़्यादा होती है, किसी में कम। बुद्धि मात्रा का प्रभाव सब योग्यताओं और सब वृत्तियों पर पड़ता है। बुद्धियुक्त मनुष्य अपनी सब क्षुद्रताओं को किसी न किसी तरह पूरा कर लेता है। असमर्थ होते हुए भी वह अपने कारोबार में कृतकार्य हो जाता है। विपरीत इस के, बुद्धिहीन मनुष्य अपनी योग्यताओं से यथोचित फ़ायदा नहीं उठा सकता। योग्य होते हुए भी वह अपने बहुत से कामों में नाकामयाब रहता है। यही कारण है कि आधुनिक जीववृत्ति-वैज्ञानिक बुद्धिमापन पर इतना ज़ोर देते हैं और बुद्धिमापन के नित्य नए ढंग निकालते हैं।

चरित्र-भेद

व्यक्तित्व के लिए सब से महत्वपूर्ण चरित्र है। असल में तो चरित्र-भेद ही व्यक्ति-भेद है। चरित्र ही व्यक्तित्व है। जैसा जिस का चरित्र होता है वैसा ही वह व्यक्ति है। मनुष्य का स्वभाव, उस के राजस संस्कार, उस की योग्यताएं, सब उस के चरित्र के अधीन हैं। सच्चरित्र मनुष्य की सब बातें अच्छी होती हैं। दुश्चरित्र मनुष्य की सब बातें निकृष्ट होती हैं,

चाहे वह कितना ही योग्य हो, कितना ही प्रभावशाली हो। सच्चरित्र मनुष्य अपने सब संस्कारों को, अपनी सब योग्यताओं को, अपने स्वभाव को, भले कामों में ही लगाता है। दुश्चरित्र मनुष्य के गुण भी दोषों के समान होते हैं। वे उन को बुरे कामों में ही लगाते हैं।

सारांश यह है कि व्यक्तित्व की रचना विचित्र और विषम होती है। व्यक्तित्व में बहुत सी बातें शामिल होती हैं। व्यक्तित्व में शरीर-रचना और स्वभाव का स्थान होता है। प्राकृतिक और अर्जित संस्कार व्यक्तित्व-निर्माण में हिस्सा लेते हैं। मनुष्य की सब योग्यताएं, विशेषतः बुद्धि, व्यक्तित्व के प्रधान अंश हैं, और सब से बढ़ कर मनुष्य का चरित्र उस के व्यक्तित्व को नियंत्रित करता है। चरित्र व्यक्तित्व का सब से बड़ा अंश है। चरित्र से ही व्यक्ति जाना जाता है। मनुष्यों में चरित्र-भेद से बढ़ कर और कोई भेद नहीं।

अध्याय २४

जीववृत्ति-विज्ञान की विधि

बहुत दिन तक पश्छिमी जीववृत्ति-वैज्ञानिक यही समझते रहे कि जीववृत्ति-विज्ञान की एक ही रीति है, और वह रीति दूसरे विज्ञान की रीतियों से पृथक् है। भौतिक, रासायनिक और जीव-संबंधी साधारण विज्ञानों की विधि इंद्रिय-द्वारा निरीक्षण और परीक्षण है। भौतिक पदार्थों का, रसायनिक क्रियाओं का, और जीव-जंतुओं का वैज्ञानिक इंद्रिय द्वारा प्रत्यक्ष करते हैं और उन का अधिक ज्ञान प्राप्त करने के लिए उन का आत्मरचित विविध अवस्थाओं में परीक्षण व निरीक्षण करते हैं।

जब किसी वस्तु का या किसी क्रिया का आत्म-व्यवस्थित परिस्थिति में निरीक्षण करते हैं, तो उसे प्रयोग या परीक्षण कहते हैं। यदि किसी क्रिया को उस के नैसर्गिक रूप में देखने की बजाय, हम स्वयं उस को उत्पन्न करके देखें तो यह परीक्षण हुआ। उदाहरणार्थ यदि अकस्मात् कोई वस्तु अग्नि में गिर कर जल जाय तो उस की गंध और उस के रासायनिक परिवर्तन आदि का हम निरीक्षण करते हैं। परंतु यदि कोई विज्ञानवेत्ता उस वस्तु के लक्षण और उस की रासायनिक रचना मालूम करने के लिए उसे गरम करके या जला कर देखे, तो यह परीक्षण होगा।

अंतःप्रेक्षण

पहले पश्चिमी जीववृत्ति-वैज्ञानिक यह समझते थे कि चेतना-वृत्तियां ही इस विज्ञान का विषय हैं, और चूँकि चेतना-वृत्तियों का ज्ञान साधारण इंद्रियजन्य ज्ञान नहीं, इस की प्राप्ति की रीतियां भी साधारण निरी-क्षण और [illegible]ण नहीं। चेतना कोई स्थूल वस्तु नहीं जो इंद्रिय द्वारा

उपलब्ध हो सके। न कोई किसी चेतना-वृत्ति को देख सकता है, न सुन सकता है, न स्पर्श कर सकता है। अतएव चेतना-वृत्ति ज्ञान प्राप्त करने का अपना ही ढंग है। यदि किसी मनुष्य में कोई चेतना-वृत्ति उपस्थित हो रही है, तो वह मनुष्य स्वयं उस वृत्ति का ज्ञान प्राप्त कर सकता है। यह ज्ञान इंद्रिय द्वारा प्राप्त नहीं होता। किसी अव्यवहित रीति से उसे यह ज्ञान हो जाता है। अपनी चेतनावृत्ति के अव्यवहित ज्ञान को अंतर्दृष्टि या अंतरावलोकन कहते हैं।

यदि चेतना ही जीववृत्ति-विज्ञान का विषय है तो अंतःप्रेक्षण ही इस विज्ञान की एक रीति हो सकती है, और कोई नहीं। अंतःप्रेक्षण ज्ञान प्राप्त करने की एक विचित्र विधि है। अंतःप्रेक्षण द्वारा केवल चेतना-वृत्तियों का ज्ञान प्राप्त होता है, और वह ज्ञान भी सीधा उसी मनुष्य को हो सकता है जिस की वे वृत्तियां हों। विचित्र बात तो यह है कि अंतरावलोकन स्वयं भी एक चेतना-वृत्ति है। इस कारण यदि किसी चेतना-वृत्ति का अंतरावलोकन शुरू कर दें तो स्वयं अंतरावलोकन उस चेतना-वृत्ति से मिल कर उस में परिवर्तन पैदा कर देता है। अंतरावलोकन के साथ मिल कर चेतना-वृत्ति वह नहीं रहती जिस का अंतरावलोकन करना होता है, अतएव विज्ञान वेत्ताओं ने अंतरावलोकन का यह नियम बनाया है कि जब कोई जीववृत्ति समाप्त हो चुके तब उस का अंतरावलोकन करना चाहिए। चेतना-वृत्ति के होते-होते उस का निरीक्षण नहीं हो सकता।

परंतु जब कोई चीज़ उपस्थित ही नहीं होती तो उस का निरीक्षण कैसा? यदि यह कहें कि चेतना-वृत्ति का पुनरुद्भाव करके उसे निरीक्षण किया जाय, तो भी अशुद्ध होगा क्योंकि पुनरुद्भूत चेतनावृत्ति वही नहीं होती जो पहले थी। पहली चेतनावृत्ति कुछ और होती है, पुनरुद्भूत चेतनावृत्ति कुछ और। केवल उन का विषय एक होता है, और विषय एक होने के कारण वे एक ही नाम से पुकारी जाती हैं। यदि हम इस

पुस्तक का दो बार ध्यान करें तो वे दोनों ध्यान अलहदा-अलहदा होंगे, हालां कि दोनों ध्यान इस पुस्तक के ही ध्यान होंगे।

इस के अतिरिक्त, जो मुश्किल पहली चेतनावृत्ति के अंतःप्रेक्षण में पड़ेगी वही पुनरुद्भूत चेतनावृत्ति के अंतःप्रेक्षण में भी होगी। अंतःप्रेक्षण और पुनरुद्भूत चेतनावृत्ति मिल कर एक नई चेतनावृत्ति बन जाएंगी। अतएव यह कहना ठीक नहीं कि पहले चेतनावृत्ति को समाप्त हो लेने देना चाहिए और फिर उसे पुनरुज्जीवित कर के उस का अंतरावलोकन करना चाहिए।

आत्मज्ञान

यह हम पहले देख आए हैं कि जब कोई चेतनावृत्ति उपस्थित होती है तो जीव विकास के ऊँचे क्रम पर विषय-ज्ञान के साथ-साथ जीव की उस चेतनावृत्ति का ज्ञान भी कुछ न कुछ होता है। इसी ज्ञान को हम ने आत्मज्ञान कहा है। यही अंतरावलोकन है। इस आत्मज्ञान का एक लक्षण यह है कि यह हमेशा चेतना-प्रांत में रहता है, केंद्रीय कभी नहीं होता। जब हम किसी विषय की ओर ध्यान दे रहे होते हैं तो चेतना-प्रांत में हम ख़ुद और हमारी उस समय की चेतना-वृत्तियां भी रहती हैं। यदि हम उन चेतनावृत्तियों को चेतना-केंद्र में लाने की कोशिश करें तो वे लोप हो जाती हैं। इस वास्ते अंतःप्रेक्षण हमेशा प्रांतवर्ती विषयों का ही होता है। हां, चेतनावृत्ति समाप्त होने पर हम उस का निरूपण कर सकते हैं।

वास्तव में चेतनावृत्ति का अवलोकन वृत्ति के समाप्त होने पर नहीं होता, उस का निरूपण ही उस के समाप्त होने पर होता है। चेतना-वृत्तियों का अवलोकन तो जिस समय वे उपस्थित रहती हैं उसी समय होता रहता है। हमारा ध्यान किसी विषय पर जमा रहता है और साथ ही हमें अपना और अपनी चेतना-वृत्तियों का भी ज्ञान होता रहता है। पर यदि हम उसी समय उन चेतना-वृत्तियों का निरूपण शुरू कर दें तो उन में तुरंत परिवर्तन हो जाता है। इस कारण उस समय तो हम केवल

विषय पर ही ध्यान जमाए रहते हैं। परंतु चेतना-वृत्ति के समाप्त होते ही हम उस का निरूपण करना शुरू कर देते हैं। इस विधि का नाम अंतःप्रेक्षण है।

इंद्रिय-ज्ञान

जीववृत्तियों में चेतनावृत्तियां भी शामिल हैं और चेतना-रहित क्रियाएं भी। चेतना-वृत्तियों के अव्यवहित ज्ञान प्राप्त करने की विधि अंतःप्रेक्षण है। परंतु चेतनारहित क्रियाओं का ज्ञान हमें उसी ढंग से होता है जिस ढंग से स्थूल वस्तुओं का। हम शारीरिक क्रियाओं को इंद्रिय द्वारा प्रत्यक्ष कर सकते हैं। उन्हें देख सकते हैं स्पर्श कर सकते हैं और उन के शब्द सुन सकते हैं। आधुनिक जीववृत्ति-विज्ञान इस प्रत्यक्षात्मक विधि का बहुत उपयोग करता है। विशेषतः जानवरों और छोटे बच्चों की वृत्तियों का हाल इसी ढंग से मालूम किया जाता है। वे अंतरावलोकन के समर्थ नहीं होते, क्योंकि वे जीव विकास के नीचे पद पर ही होते हैं। उन्हें आत्म-ज्ञान नहीं होता। जीववृत्ति-वैज्ञानिक केवल उन के व्यवहार का निरीक्षण करते हैं। उन के अंतःप्रेक्षण से लाभ नहीं उठा सकते।

आज कल बाल्यवृत्ति-विज्ञान और पाशववृत्ति-विज्ञान का इतना ज़ोर है कि किसी-किसी जीववृत्ति-वैज्ञानिक की राय में जीववृत्ति-विज्ञान केवल प्राणियों के व्यवहार का ही उल्लेख करता है, और इस विज्ञान की विधि, भौतिक विज्ञानों की भाँति साधारण इंद्रिय द्वारा प्राप्त प्रत्यक्षादि ही हैं। असल में जीववृत्ति-विज्ञान चेतना का भी निरूपण करता है और जीव की शारीरिक क्रियाओं का भी, और इस की विधि में इंद्रियजन्य ज्ञान भी शामिल है और अंतःप्रेक्षण भी।

अध्याय २५

जीववृत्ति-विज्ञान का विस्तार और इस के प्रयोग

पाशव वृत्ति-विज्ञान

आधुनिक जीववृत्ति-विज्ञान की बहुत सी शाखाएं हैं। जीव की दो बड़ी जातियां आदमी और जानवर हैं। अतएव जीववृत्ति-विज्ञान की दो बड़ी शाखाएं मानव-वृत्ति-विज्ञान और पाशववृत्ति-विज्ञान हैं। इस अर्थ में पशुओं में सब जानवर शामिल हैं—पक्षी, पानी के जानवर और कीड़े-मकोड़े आदि। बाल्यवृत्ति-विज्ञान का ज़िक्र हम पहले कर आए हैं। इस विज्ञान के आधार पर एक बड़ा उपयोगी विज्ञान उत्पन्न हो गया है जिसे शिक्षा-संबंधी जीववृत्ति-विज्ञान कह सकते हैं।

व्यापार-संबंधी वृत्ति-विज्ञान

इन के अतिरिक्त, चिकित्सा-संबंधी जीववृत्ति-विज्ञान और व्यापार-संबंधी जीववृत्ति-विज्ञान हैं। प्रतिरुद्ध इच्छाओं के विश्लेषण द्वारा रोग-चिकित्सा का हाल हम पहले लिख आए हैं। बड़े-बड़े व्यापारों में आज कल जीव-विज्ञान का इतना अधिक प्रयोग होता है कि व्यापार-संबंधी जीववृत्ति-विज्ञान इस विज्ञान की एक अलाहदा शाखा बन गई है। व्यापारिक जीववृत्ति-विज्ञानवेत्ता श्रमियों की वैज्ञानिक रीति से परीक्षा करते हैं, और बड़े-बड़े यंत्रालयों में जितने भी विविध काम किए जाते हैं उन का वैज्ञानिक विधि से विश्लेषण करते हैं। इस प्रकार वे मालूम कर लेते हैं कि कौन श्रमी किस काम के योग्य है और प्रत्येक काम किस ढंग से अच्छा और जल्दी किया जा सकता है।

सामाजिक वृत्ति-विज्ञान

जीववृत्ति-विज्ञान की एक और मुख्य शाखा सामाजिक वृत्ति-विज्ञान है। इस में संदेह नहीं कि जिस तरह कोई व्यक्ति जब अकेला होता है तब व्यवहार करता है उस तरह वह समाज में नहीं करता। जब हम अकेले होते हैं तो हमारे ढंग कुछ और होते हैं, जब हम अपने कुटुंबियों में होते हैं तो कुछ और, जब हम अपने मित्रों के साथ होते हैं तो कुछ और, और जब हम जन-समूह में कोई वक्तृता सुन रहे होते हैं तो कुछ और। विविध समाजों में जिस तरह मनुष्य व्यवहार करता है उस का निरूपण सामाजिक जीववृत्ति-विज्ञान करता है। तात्पर्य यह कि जीववृत्ति-विज्ञान बड़ा विस्तृत विज्ञान है और मानववृत्ति-विज्ञान, पाशववृत्ति-विज्ञान, बाल्यवृत्ति-विज्ञान, शिक्षा-संबंधी जीववृत्ति-विज्ञान, चिकित्सा-संबंधी जीववृत्ति-विज्ञान, व्यक्तिवृत्ति-विज्ञान, सामाजिक वृत्ति-विज्ञान, असाधारण जीववृत्ति-विज्ञान, ये सब इस की बड़ी-बड़ी शाखाएं हैं। यों तो जीववृत्ति-विज्ञान का प्रयोग बुद्धिमान् मनुष्य अपने जीवन में प्रतिक्षण करते रहते हैं। जब कभी हम यह मालूम करते हैं कि अमुक बात का अमुक मनुष्य पर क्या असर होगा और वह उस बात के प्रति क्या व्यवहार करेगा, हम जीववृत्ति-विज्ञान का प्रयोग करते हैं। परंतु जीववृत्ति-विज्ञान की किसी-किसी शाखा का आज कल इतना सुव्यवस्थित प्रयोग हो रहा है कि उन का कुछ हाल लिखना ज़रूरी होता है।

शिक्षा

आज कल सब से ज़्यादा बाल्यवृत्ति-विज्ञान का प्रयोग बाल्य-शिक्षण में हो रहा है। पश्चिम में लगभग प्रत्येक विद्यालय में जीववृत्ति वैज्ञानिक रहते हैं। अव्वल तो वे छात्रों की बुद्धि-परीक्षा करते हैं, जिस से उन्हें पता चलता है कि कौन छात्र प्रतिभाशाली हैं, कौन साधारण, और कौन इतने बुद्धि-हीन कि वे विद्यालय की पढ़ाई से कुछ लाभ ही नहीं उठा सकते। इस तरह

वे पता लगा लेते हैं कि किन छात्रों को अलाहदा श्रेणियों में रखना चाहिए, और यह भी मालूम कर लेते हैं कि कोई छात्र परीक्षाओं में क्यों उत्तीर्ण नहीं होता।

कभी-कभी अनुत्तीर्ण होने का कारण छात्र की मंद-बुद्धि होती है। प्रायः शिक्षा-रीति की कोई त्रुटि होती है। छात्र इम्तिहान पास कर सकता है, पर शिक्षा का ढंग उस के लिए रोचक नहीं होता, इस लिए उस का शिक्षा में मन नहीं लगता। कभी-कभी यह भी पता चलता है कि छात्र अपने साथियों की अपेक्षा इतनी तीव्र बुद्धि वाला होता है कि मदरसे के काम में उसे रुचि नहीं होती, और ध्यान न देने के कारण वह परीक्षा में उत्तीर्ण नहीं होता।

बुद्धि-परीक्षा के अतिरिक्त, शिक्षा-संबंधी जीववृत्ति-वैज्ञानिक शिक्षा के उत्तम और सुव्यवस्थित ढंगों का प्रयोग मदरसों में कराते हैं। शिक्षण की विविध रीतियों की बाबत हम पहले लिख आ हैं। शिक्षण की उत्तम रीतियों का विद्यालयों में प्रयोग करना शिक्षा-संबंधी जीववृत्ति-विज्ञान का ही प्रयोग करना है। इस के अलावा, विद्यालयों में जो जीव-वृत्ति-वैज्ञानिक काम करते हैं वे छात्रों की मानसिक स्वास्थ्य की भी देख-भाल करते हैं। वे प्रथम तो यह कोशिश करते हैं कि जहां तक हो सके, आसाधारण जीववृत्तियां शिष्यों में उत्पन्न ही न हों। परंतु यदि दुर्भाग्य से किसी छात्र में असाधारण गति उदय हो जाती है, तो वे तुरंत उस की रोक-थाम करते हैं।

असल में आजकल असाधारण जीववृत्ति-विज्ञान का पश्चिम में काफ़ी प्रयोग हो रहा है। असाधारण जीववृत्तियों की चिकित्सा के लिए जगह-जगह पर चिकित्सालय बने हैं। वहां तरह तरह के रोगी जाते हैं और बिना औषधि सेवन किए स्वस्थ हो कर आते हैं। असाधारण जीववृत्ति-चिकित्सा की मुख्य विधि मनोविश्लेषण है। मनोविश्लेषण द्वारा रोगी की प्रति-

चिकित्सा

रुद्ध इच्छाओं का पता चलता है। प्रतिरुद्ध इच्छाओं के पता चलने के बाद असाधारण जीव-वृत्तियों का इलाज आसानी से हो जाता है।

शिक्षा-संबंधी और चिकित्सा-संबंधी प्रयोगों के अतिरिक्त जीववृत्ति-विज्ञान का सुव्यवस्थित प्रयोग व्यापार में होता है।

व्यापार

हम पहले देख आए हैं कि व्यापार-संबंधी जीववृत्ति-वैज्ञानिक श्रमियों को बुद्धि परीक्षा करते हैं, उन की विशेष योग्यताओं का मापन करते हैं, और सर्वथा योग्य श्रमियों को ही विविध कामों में लगाते हैं। जो श्रमी जिस काम के योग्य होता है उस को वही काम दिया जाता है। इस तरह सब श्रमी मिल कर ज़्यादा काम कर सकते हैं और जो कुछ काम वे करते हैं भली प्रकार करते हैं। इस के अतिरिक्त, व्यापार-संबंधी जीववृत्ति-वैज्ञानिक हर काम के करने का सब से उत्तम तरीक़ा मालूम करते हैं और वह श्रमियों को बताते हैं। इस से चाकरों और स्वामियों दोनों को बहुत लाभ होता है। एक और सुयोग्य काम जो जीववृत्ति-वैज्ञानिक करते हैं वह श्रांति की जाँच है। वैज्ञानिकों के अनुभव से यह पता चला है कि थके हुए श्रमी यदि काम किए जाएं तो काम भी ख़राब और कम होता है और श्रमियों के स्वास्थ्य का भी नाश होता है। इस कारण वैज्ञानिक ऐसा प्रबंध करते हैं कि प्रत्येक कार्य थोड़ी देर तक किया जाय और फिर श्रमियों को कुछ देर के लिए विश्राम दिया जाय। कभी कभी अत्यंत परिश्रम के बाद श्रमियों से फिर काम शुरू कराने से पहले उन्हें मिताहार भी दिया जाता है। ऐसा करने से श्रमियों का स्वास्थ्य भी ठीक रहता है और काम भी ज़्यादा निकलता है।

पर्यायवाची शब्द-सूची

Ability योग्यता, सामर्थ्य
Abnormal psychology असाधारण जीववृत्ति-विज्ञान
Acquired अर्जित
Acquisitiveness संचय
Action कार्य
Active सप्रयास
Adrenal एँड्रिनल
Affection सुख-दुःख
Afferent nerve ज्ञानतंतु
Age आयु
Alimentary canal अन्न प्रणाली
Analysis विश्लेषण
Anger क्रोध
Animal psychology पाशववृत्ति-विज्ञान
Association संबंध
Attention अवधान
Attentive सावधान
Attribute गुण
Bitter कटु
Blood-vessel रक्त-नलिका
Body शरीर
Brain मस्तिष्क
Brightness रोशनी
Central मध्यवर्ती
Cerebellum छोटा मस्तिष्क
Cerebrum बड़ा मस्तिष्क
Character चरित्र
Child psychology बाल्यवृत्ति-विज्ञान
Cochlea शंखास्थि
Cognition ज्ञान
Colour रंग
Cold शीत
Conditioned reflex संबद्ध सहज क्रिया
Conation कृति
Concept सामान्य प्रत्यय
Contiguity अव्यवधानता
Consciousness चेतना, चेतना-वृत्ति
Curiosity कुतूहल
Decision निश्चय
Disposition संस्कार

Dream स्वप्न
Drum membrane कान का परदा
Duct gland सप्रणाल ग्रंथि
Ductless gland अप्रणाल ग्रंथि
Duration स्थितिकाल
Ear कर्णेंद्रिय, कान
Education शिक्षा
Educational psychology शिक्षा-संबंधी जीववृत्ति-विज्ञान
Effort प्रयास
Effortful सप्रयास
Endocrine gland अप्रणाल ग्रंथि
Emotion उद्वेग
Experiment प्रयोग
Evolution विकास
Eye चक्षु, आँख
Fatigue श्रांति
Fear भय
Feeling भोग
Field of consciousness चेतना-प्रांत
Forgetting विस्मृति
Form रूप
Gesture इंगित
Gland ग्रंथि
Growth उन्नति
Habit अभ्यास, आदत
Hearing श्रवण
Heart हृदय
Heat उष्णता
Hunger भूक
Hypnosis परवश-निद्रा
Idea प्रत्यय
Image प्रत्ययानुकार
Imagination प्रत्ययानुकरण, कल्पना
Imitation अनुकरण
Impulse प्रेरणा
Impulsive साहसिक
Inattention निरवधान
Individual व्यक्ति
Individual differences व्यक्ति-भेद
Inference अनुमान
Industrial psychology व्यापार-संबंधी जीववृत्ति विज्ञान
Inhibition प्रतिरोध
Insanity पागलपन
Innate प्राकृतिक
Instinct राजस संस्कार
Insight सूझ

Intelligence बुद्धि
Interest रुचि
Introspection अंतःप्रेक्षण, अंतरावलोकन, अंतर्दृष्टि
Involuntary अनैच्छिक
Iris पुतली
Jealousy ईर्ष्या
Joint जोड़
Judgment अनुमिति
Knowledge ज्ञान
Language भाषा
Learning शिक्षण
Lens ताल
Light प्रकाश, रोशनी
Love प्रेम
Lungs फेफड़े
Meaning भाव
Measurement मापन
Medulla oblongata मज्जादंड-मूल
Mechanical ability यंत्र-संबंधी सामर्थ्य
Memory स्मृति
Memory idea स्मरण-वृत्ति
Mental मस्तिष्क-संबंधी
Midbrain मध्य-मस्तिष्क
Method प्रयोग
Monism अद्वैतवाद
Motor nerve क्रियातंतु
Motor organ कर्मेंद्रिय
Muscle पेशी
Music संगीत
Musical ability संगीत-संबंधी सामर्थ्य
Nausea उबाकी
Nerve मज्जातंतु
Nerve centre मज्जा-संस्थान
Nose नासिका, नाक
Object विषय
Observation निरीक्षण
Oesophagus अन्न-प्रणाली
Odour गंध
Organism जीव
Parathyroid पैराथाइरोएड
Pain पीड़ा
Part method विभक्त रीति
Passive attention अप्रयास अवधान
Perception प्रत्यक्ष, वस्तु उपलब्धि
Physical शारीरिक
Pituitary पिटुइटरी
Peripheral प्रांतवर्ती

Play खेल
Pleasantness सुख
Process वृत्ति
Pressure दबाव
Psychology जीववृत्ति-विज्ञान
Psycho-analysis मनोविश्लेषण
Psycho-therapeutics मानसिक चिकित्सा
Pupil तारा
Rapport वशीकरण
Recall पुनरावृत्ति, पुनरुत्पादन, पुनरुज्जीवन
Recency नवीनता
Recognition प्रत्यभिज्ञा
Reflex action सहज क्रिया
Repetition पुनः पुनरावृत्ति
Reproduction पुनरुत्पादन, पुनरुज्जीवन
Repressed प्रतिरुद्ध
Retentivity संस्कार-स्थायित्व
Science विज्ञान
Semi-circular canals अर्ध-वृत्ताकार नलिकाएं
Sensation गुणोपलब्धि
Sensory nerve ज्ञानतंतु
Sense organ ज्ञानेंद्रिय
Sentiment स्थायी भाव
Self-consciousness वैज्ञानिक चेतना, आत्मज्ञान
Self respect आत्म-सम्मान
Self assertion आत्म-गौरव
Self-abasement आत्म-लाघव
Self-preservation आत्मरक्षा
Self-conscious process वैज्ञानिक चेतना-वृत्ति
Sex-instinct काम
Sex-gland स्त्री-पुरुष ग्रंथि
Similarity समानता
Skin त्वचा
Sleep निद्रा, नींद
Social psychology सामाजिक वृत्ति-विज्ञान
Soul आत्मा
Sound शब्द
Spaced method विस्तृत रीति
Spinal cord मज्जादंड
Span विस्तार
Stimulus गुणोपलब्धि विषय
State अवस्था
Stomach आमाशय
Subject विषयी
Suggestion संकेत-ग्रहण

Stream of consciousness चेतना-प्रवाह
Sub-conscious चेतना-रहित, अचेत, अज्ञात चेतना
Sympathy सहानुभूति
Synthesis संश्लेषण
Taste स्वाद
Temporal perception समय-प्रत्यक्ष
Tender emotion स्नेह, मार्दव
Tendon पेशी-सिरे
Tendency संस्कार
Test परीक्षण
Thirst प्यास
Thought विचार
Throat कंठ
Thyroid थाइरॉएड
Time समय
Tongue जिह्वा, जीभ
Touch स्पर्श
Unconscious अचेत, चेतना-रहित
Unpleasantness दुःख
Visual image प्रतिमा
Vestibule अस्थि-गूमड़े
Volition इच्छा, व्यवसाय
Voluntary ऐच्छिक
Wave of consciousness चेतना-तरंग
Whole method संपूर्ण रीति
Will व्यवसाय

शब्दानुक्रमणिका